

विष्यसूत्री.

विष्य.

| | विष्य सूत्र | श्लोक. पृष्ठ. |
|--|-------------|---------------|
| प्रतिज्ञा... मंगलाचरण. | १ २ | १ १ |
| धर्मको नमस्कार. | ३ | २ |
| स्तनत्रयको नमस्कार. प्रत्येक दृष्टि ४०८ को | ४ | २२ |
| सम्यग्दर्शनको विशेष निर्णयिता भाग भाग | ५ | २२ |
| ग्रेथ लिखनेकी प्रतिज्ञा. | ६ | २२ |
| सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन. | ७ | २२ |
| सम्यग्दर्शनका स्वरूप. | ८ | २४ |
| देवका स्वरूप. | ९ | २४ |
| कुदेवका स्वरूप. | १० | ५५ |
| धर्मका स्वरूप. | ११ | ६६ |
| कुधर्मका स्वरूप. | १२ | ६६ |
| गुरुका स्वरूप. | १३ | ७७ |
| कुगुरुका स्वरूप. | १४ | ७७ |
| तत्त्वोंका स्वरूप. | १५ | ८८ |
| कुतत्त्वोंका स्वरूप. | १६ | ८८ |
| सम्यग्दर्शनकी प्रशंसा. | १७ | ९९ |
| सदोष सम्यग्दर्शनकी असामर्थ्य. | १८ | १०० |
| सम्यग्दर्शनकी भावना. | १९ | १०० |
| मिथ्यादर्शन. | २० | १०० |
| मिथ्यादृष्टियोंको सदुपदेश अच्छा नहीं लगता. | २१ | १११ |
| शंका दोष. | २२ | १११ |
| शंका दोषसे हानियां. | २३ | ११२ |

| | | |
|--|----|----|
| कांक्षा दोष. | २७ | १३ |
| कांक्षा दोषसे हानियाँ. | २८ | १५ |
| सम्यग्दर्शनकी महिमा. | ३० | १६ |
| विनिंदा दोष. | ३१ | १७ |
| विनिंदा दोषसे हानियाँ. | ३५ | १९ |
| मिथ्यादर्शनप्रशंसा दोष. | ३७ | २० |
| मिथ्या दृष्टियोंका भत. | ४० | २२ |
| उपगूहन अंग. | ४२ | २४ |
| उपगूहन अंगके न होनेसे हानियाँ. | ४३ | २५ |
| स्थिति करण अंग. | ४५ | २५ |
| स्थितिकरण के न होनेसे सम्यग्दर्शक की हानि. | ४६ | २६ |
| रत्नत्रयको स्थिर करनेके उपाय. | ४७ | २६ |
| स्थितिकरणके अभावसे हानियाँ. | ४९ | २८ |
| प्रभावना अंग. | ५० | २९ |
| रत्नत्रयकी निंदासे हानि. | ५२ | ३१ |
| वात्सल्य अंग. — | ५३ | ३१ |
| वात्सल्य अंगके प्रकार. — | ५५ | ३२ |
| वैद्यावृत्य के लिये उपदेश. | ५६ | ३३ |
| सम्यग्दर्शनके भेद. | ५८ | ३४ |
| औपशमिक सम्यग्दर्शन के काण्ड. | ५९ | ३५ |
| सम्यग्दर्शनके और भी भेद. | ६१ | ३६ |
| सम्यग्दर्शनके दोष गुण. | ६२ | ३७ |
| सम्यग्दर्शनकी मुख्यता. | ६४ | ३९ |
| दोषोंके त्याग करनेका उपदेश. | ६६ | ४० |
| सम्यग्दर्शनकी महिमा. | ६७ | ४० |
| सम्यज्ञानका स्वरूप. | ७१ | ४१ |

| | | |
|--|----|----|
| सम्यज्ञानी बननेका उपदेश. | ७३ | ४३ |
| ज्ञानके भेद. — | ७५ | ४४ |
| संयमका स्वरूप. — | ७६ | ४४ |
| संयमके भेद. — | ७७ | ४५ |
| तीनोंकी एकता ही सम्यग्दर्शनका कारण है. — | ७८ | ४५ |
| केवल सम्यज्ञान मोक्षका कारण नहीं है. | ८० | ४६ |
| केवल संयम मोक्षका कारण नहीं है. | ८१ | ४७ |
| निश्चय सम्यग्दर्शन. | ८२ | ४७ |
| निश्चय सम्यज्ञान. | ८६ | ५० |
| निश्चय संयम. | ८८ | ५० |
| अलग अलग ज्ञान और संयम व्यर्थ हैं. — | ८९ | ५१ |
| रत्नत्रयका अलग अलग फल. | ९० | ५१ |

दूसरा अध्याय.

| विषय. | श्लोक. | पृष्ठ. |
|--|--------|--------|
| त्रतकी महिमा. | १ | ५४ |
| श्रावकोंके त्रुटि. | २ | ५४ |
| मध्यके दोष. | ३ | ५५ |
| मांसके दोष. | ४ | ५८ |
| निर्दयीकी निंदा. | १६ | ६१ |
| धर्मत्माकी प्रशंसा. | १७ | ६२ |
| अधर्म न करनेवालेकी प्रशंसा. | १८ | ६२ |
| मांस खानेवालेकी निंदा. | १९ | ६३ |
| अहिंसामें हेतु. | २० | ६३ |
| मध्य मांस मधुके त्यागके लिये उर्फ़ूशा. | २१ | ६४ |
| हिंसाके त्यागके लिये उपदेश. | २२ | ६४ |

| | | |
|--|----|----|
| दया ही धर्म है. | २३ | ६६ |
| हिंसाके दोष. | २४ | ६७ |
| हिंसाका फल. | २७ | ६९ |
| मधु वा शहतके दोष. | २८ | ६९ |
| उर्दुबरोंके दोष | ३३ | ७३ |
| मद्यमांस खानेवालोंके वर्तनोंमें भोजन पानका निषेध. ३४ | | ७४ |
| चमडेके पात्रोंकी चीजोंका और अवखनका निषेध. ३५ | | ७४ |
| व्यसनोंके त्यागका उपदेश. | ३६ | ७५ |
| अन्न व मासमें अन्तर. | ३७ | ७६ |
| धर्म समझकर हिंसा करने और मास खानेका निषेध. ४० | | ७७ |
| अणुत्रतोंका स्वरूप. | ४२ | ७८ |
| अहिंसाणुत्रत का स्वरूप. | ४३ | ७९ |
| अहिंसाणुत्रत के लाभ. | ४४ | ८० |
| प्रकारांतरसे अहिंसाणुत्रतका उपदेश. | ४५ | ८० |
| अहिंसाणुत्रतका फल. | ४७ | ८१ |
| अहिंसाणुत्रतीके कर्तव्य. | ४८ | ८२ |
| अहिंसाणुत्रतमें त्याग करने योग्य पदार्थ. | ४९ | ८२ |
| रात्रिभोजनका निषेध. | ५१ | ८४ |
| द्विदलके त्यागका उपदेश. | ५४ | ८६ |
| बिकलत्रयकी हिंसा हो जानेवर प्रायश्चित्तका उपदेश. ५५ | | ८६ |
| परिणामोंसे ही पुण्य पाप होता है. | ५६ | ८७ |
| कायदचनकी प्रवृत्ति. | ५७ | ८७ |
| मन वचन कायकी प्रवृत्तिके उदाहरण. | ५८ | ८८ |
| हिंसा अहिंसा के विषयमें. | ६० | ८९ |
| पापोंको शांत करनेके उपाय. | ६३ | ९१ |
| अचौर्याणुत्रतका स्वरूप. | ६४ | ९२ |

| | | |
|---|------|-----|
| चोरीका फल. | ७१ | ९५ |
| अचौर्याणुव्रतके फल. | ७३ | ९६ |
| सत्याणुव्रतका स्वरूप. | ७४ | ९७ |
| असत्यके भेद और उनका. तथा उनके त्यागनेका उपदेश. | { ७७ | ९९ |
| सत्यवादीकी प्रशंसा. | ८१ | १०१ |
| मिथ्याभाषणके दोष. | ८४ | १०२ |
| प्रिय वचनोंकी प्रशंसा. | ८५ | १०३ |
| अप्रिय वचनोंका निषेध. | ८७ | १०४ |
| मान्य भाषा. | ८९ | १०५ |
| ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप. | ९० | १०५ |
| वेश्या सेवनका निषेध. | ९१ | १०५ |
| ब्रह्मचर्यके पालनेका उपदेश. | ९२ | १०६ |
| ब्रह्मचारीके लिये न करने योग्य कार्य. | ९३ | १०७ |
| ब्रह्मचर्यके पालन करनेके लिये शिक्षा. | ९४ | १०७ |
| विषयोंकी अवस्था. | ९५ | १०८ |
| ब्रह्माणुव्रतियों का कर्तव्य. | ९८ | १०९ |
| परस्ती लालसाके दोष. | ९९ | ११० |
| परस्तीसेवनके फल. | १०१ | १११ |
| परस्तीसेवनके दोष. | १०३ | ११२ |
| ब्रह्मचर्य की महिमा. | १०७ | ११४ |
| परिग्रह परिमाणका स्वरूप. | १०९ | ११५ |
| परिग्रहोंका मूल कारण. | ११० | ११५ |
| अभिलाषाका फल, | १११ | ११६ |
| परिमाण करनेका उपदेश. | ११२ | ११६ |
| इच्छाकी व्यर्थता. | ११३ | ११७ |

| | | |
|--|-----|-----|
| संतोषका फल. | ११४ | ११६ |
| ममताका फल. | ११५ | ११८ |
| इच्छाके दोष. | ११६ | ११९ |
| अतरंग परिग्रह. | ११८ | १२० |
| लोभी पुरुष कभी तृप्त नहीं होते. | १२० | १२१ |
| धनकी निंदा. | १२१ | १२२ |
| पश्चिमाणके अतिचार. | १२२ | १२२ |
| देशव्रतका स्वरूप. | १२३ | १२३ |
| दिग्व्रतके लाभ. | १२४ | १२३ |
| देशव्रतका स्वरूप. | १२५ | १२४ |
| जिस देशमें मांसभोजी, धर्मशीलको नष्ट करनेवाले } हों तथा साधु तीयोंका अभाव हो ऐसे देशमें } रहनेका निषेध. | १२६ | १२४ |
| देशव्रतका फल. | १२७ | १२५ |
| अनर्थदंड व्रतका स्वरूप. | १२९ | १२६ |
| अनर्थदंड व्रतीके लिये न करने योग्य कार्य. | १३० | १२६ |
| अनर्थदंड व्रतकी महिमा | १४१ | १३१ |
| सामायिकका स्वरूप | १४२ | १३२ |
| प्रातःकालकी विधि | १४३ | १३२ |
| चितवन | १४६ | १३३ |
| वंदना | १५३ | १३७ |
| समता | १५७ | १३९ |
| स्तुति. | १५९ | १४० |
| वंदना. | १६१ | १४१ |
| प्रतिक्रमण. | १६२ | १४२ |
| भावना. | १६५ | १४३ |

| | | |
|---|-----|-----|
| ध्यान. | १६७ | १४३ |
| मूलमंत्रकी महिमा. | १६९ | १४४ |
| ध्यानके भेद. | १७२ | १४६ |
| पदस्थ ध्यानका स्वरूप. | १७३ | १४६ |
| देहस्थ [पिंडस्थ] ध्यानका स्वरूप. | १७४ | १४६ |
| रूपस्थ ध्यानका स्वरूप. | १७५ | १४७ |
| रूपातीत ध्यानका स्वरूप. | १७६ | १४७ |
| रूपगतीत ध्यानका फल. | १७८ | १४८ |
| ध्यातःध्यान रत्नत्रय सब आत्मस्वरूप हैं. | १७९ | १४९ |
| ध्यानके अभ्यासका उपदेश. | १८० | १४९ |
| ध्यानसे शरीरकी सार्थकता. | १८१ | १५० |
| शुभ प्रवृत्तिकी साहजिकता. | १८२ | १५१ |
| धर्मध्यान विना परिश्रमके होता है | १८३ | १५१ |
| मनकी निश्चलता ही ध्यानका कारण है. | १८४ | १५२ |
| मनकी गति. | १८५ | १५३ |
| ध्यानसे लाभ | १८६ | १५३ |
| आत्माकी शक्ति. | १८७ | १५४ |
| ध्यानकी महिमा. | १८८ | १५५ |
| ध्यानकी दुर्लभता. | १८९ | १५५ |
| ध्यानका समय. | १९० | १५६ |
| ध्यानके कारण. | १९१ | १५६ |
| ध्यानके विप्र. | १९२ | १५७ |
| शुद्ध ध्यानकी महिमा. | १९३ | १५७ |
| रूपातीत ध्यानके अभावमें रूपस्थ | १९४ | १५८ |
| ध्यानका उपदेश | | |
| अरहंतदेवका स्वरूप. | १९५ | १५८ |

| | | |
|---|-----|-----|
| अरहंतदेवके ध्यानका फल. | २०५ | १६१ |
| अरहंतदेवका स्वरूप ही } ध्यान करने योग्य है ॥३॥ } | २०६ | १६२ |
| अरहंतदेवके ध्यानकी महिमा. | २०७ | १६२ |
| ध्यानकी भावनाके पात्र. | २११ | १६५ |
| ध्यानसे पापोंका संबर. | २१२ | १६५ |
| ध्यानकी महिमा. | २१३ | १६६ |
| आत्माकी शुद्धता. | २१५ | १६७ |
| आत्माको शरीरसे भिन्न करनेका उपाय. | २१८ | १६८ |
| ध्यानकी महिमा. | २२० | १६९ |
| सामायिकके बादकी क्रिया | २२१ | १७० |
| अर्थात् जिनपूजाका उपदेश | २२१ | १७० |
| पूजाके लिये शुद्धता. | २२३ | १७१ |
| संथमियोंकी शुद्धि. | २२५ | १७१ |
| देवपूजनके लिये शुद्धि. | २२६ | १७२ |
| जिनप्रतिमाकी स्थापना. | २२७ | १७३ |
| निष्ठेपोंका तथा स्थापनाका वर्णन। | २२८ | १७३ |
| संथमी और योगियोंके लिये निष्ठेप. | २३० | १७४ |
| शुद्धात्म ध्यानियोंके लिये निष्ठेप. | २३१ | १७५ |
| जिनप्रतिमाके अभावमें पूजाकी विधि | २३२ | १७५ |
| अकृत्रिम चैत्यालयोंकी पूजा. | २३३ | १७६ |
| पूजाकी सामग्री | २३४ | १७६ |
| सिद्धोंकी पूजाका उपदेश | २३५ | १७७ |
| अरहंतदेवकी पूजाका उपदेश | २३६ | १७७ |
| आचार्योंकी पूजाका उपदेश. | २३७ | १७८ |
| उपाध्यायोंकी पूजाका उपदेश. | २३८ | १७८ |

| | | |
|-----------------------------|-----|-----|
| सर्व साधुओंकी पूजाका उपदेश. | २३९ | १७९ |
| रत्नत्रयकी पूजाका उपदेश. | २४० | १७९ |

तीसरा अध्याय.

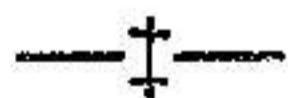
| | | |
|--|----|-----|
| प्रोषधोपवासका स्वरूप. | १ | १८० |
| पर्वके दिनोंमें करने योग्य कार्य. | २ | १८१ |
| प्रोषधोपवासके दिनोंमें न करने योग्य कार्य. | ३ | १८१ |
| प्रोषधोपवासके दिन करने योग्य कार्य. | ४ | १८२ |
| आरंभत्यागका उपदेश. | ५ | १८२ |
| उपवासकी आवश्यकता और लाभ. | ६ | १८३ |
| प्रोषधोपवासकी प्रशंसा. | ८ | १८४ |
| भोगोपभोग परिमाणका स्वरूप. | ९ | १८४ |
| भोगोपभोग परिमाणकी प्रशंसा. | १२ | १८६ |
| दानका स्वरूप. | १३ | १८७ |
| दानका लक्षण और लाभ. | १४ | १८८ |
| दानकी विशेषता. | १५ | १८८ |
| दाता और पात्रका स्वरूप. | १६ | १८९ |
| दानके भेद. | १७ | १९० |
| दानोंका अलग अलग फल. | १८ | १९० |
| अभयदानका उपदेश. | १९ | १९१ |
| अभयदानकी उत्तमता. | २० | १९१ |
| आहारदानमें निषिद्ध भोजन. | २२ | १९२ |
| मुनियोंकी सेवा सुश्रुषा करनेका उपदेश. | २६ | १९३ |
| दाताका स्वरूप | २७ | १९४ |
| मुनिराजोंको आहारकेलिये निषिद्ध वर. | २८ | १९४ |

| | | |
|--|----|-----|
| दूसरोंके द्वारा दान दिलानेका निषेध. | २९ | १९५ |
| परिणामोंके शुद्ध रखनेका उपदेश. | ३१ | १९५ |
| मनकी शुद्धताका फल. | ३२ | १९६ |
| भावनारहित मनसे लाभका अभाव. | ३३ | १९७ |
| मुनियों की वंदनाके लिये उपदेश. | ३४ | १९७ |
| पात्रोंके भेद. | ३५ | १९८ |
| अपात्रका स्वरूप. | ३६ | १९८ |
| पात्रको दान देनेका उपदेश. | ३७ | १९८ |
| मिथ्यादृष्टियोंके लिये दानका निषेध. | ३८ | १९९ |
| करुणा दानका उपदेश. | ३९ | १९९ |
| मिथ्यादृष्टियोंकी संगतिका निषेध. | ४० | १९० |
| घनकेलिये मिथ्यात्मी राजाकी सेवाका निषेध. | ४३ | २०१ |
| सम्यग्वृष्टीके लिये आदर सत्कार करनेका उपदेश. | ४४ | २०१ |
| शुणियोंके आदरसत्कारका उपदेश. | ४५ | २०२ |
| सम्यग्ज्ञानकी महिमा. | ४६ | २०२ |
| परस्पर मिलनेपर करनेयोग्य व्यवहार. | ४७ | २०३ |
| आहारदानकी प्रशंसा. | ४८ | २०३ |
| साधर्मियोंको दान देनेकी विधि. | ४९ | २०४ |
| मध्यमदानका स्वरूप. | ५० | २०४ |
| तामस दान. | ५१ | २०५ |
| सात्त्विक दान. | ५२ | २०५ |
| इन दानोंकी तरतमता. | ५३ | २०६ |
| दानकी महिमा. | ५४ | २०६ |
| दानका फल. | ५५ | २०६ |
| मौन धारणका उपदेश. | ५६ | २०७ |

| | | |
|---|----|-----|
| मौन धारण करनेके लाभ. | ५७ | २०७ |
| मौनके भेद. | ५८ | २०८ |
| शास्त्रदानका उपदेश. | ५९ | २०८ |
| श्रुतज्ञानकी महिमा और लाभ. | ६१ | २०९ |
| शास्त्रदानकी महिमा. | ६५ | २११ |
| श्रुतज्ञानियोंकी दुर्लभता. | ६६ | २१२ |
| ज्ञानकी महिमा. | ६७ | २१२ |
| औषधदानका उपदेश. | ६८ | २१३ |
| मानसिक व्याधियोंके दूर करनेका उपदेश. | ७० | २१४ |
| आगंतुक व्याधियोंके दूर करनेका उपदेश. | ७१ | २१४ |
| औषधदानका उपदेश. | ७२ | २१४ |
| औषधदानका फल. | ७३ | २१५ |
| समाधिमरणके धारण करनेका उपदेश. | ७४ | २१५ |
| समाधिमरणकी विधि. | ७७ | २१६ |
| तप करने योग्यता रहते हुए संन्यासका निषेध. | ७८ | २१७ |
| समाधिमरणका समय. | ७९ | २१७ |
| निर्यापिकाचार्यके समीप जानेका उपदेश. | ८० | २१७ |
| ब्रतोंकी शुद्धताका उपदेश. | ८१ | २१८ |
| भोजनके त्याग करनेकी विधि. | ८२ | २१८ |
| दोषोंके दूर करनेका उपदेश. | ८४ | २१९ |
| आराधनाका स्वरूप. | ८५ | २२० |
| शुद्धाराधनाका स्वरूप. | ८६ | २२० |
| आत्माके चित्तवनमें सबका चित्तवन.. | ८७ | २२१ |
| स्वानुभूतिकी महिमा. | ९० | २२२ |
| सल्लेखनाके अतिचार. | ९१ | २२३ |

| | | |
|---------------------------------|----|-----|
| आराधना से मोक्षकी प्राप्ति. | १२ | २२३ |
| सम्यादर्शनकी महिमा. | १३ | २२४ |
| वाल्मीरणके त्यागका उपदेश. | १४ | २२५ |
| मिथ्यादर्शनके त्यागका उपदेश | १५ | २२५ |
| मिथ्याज्ञानके त्यागका उपदेश | १६ | २२६ |
| मिथ्या चारित्रिके त्यागका उपदेश | १७ | २२७ |
| स्तनत्रयके धारण करनेका उपदेश | १८ | २२७ |
| आल्मज्ञानकी सख्ती और कठिनता | १९ | २२८ |

॥ इति ॥





महापंडित यशःकीर्ति विरचित.

प्रबोधसार.

प्रतिज्ञा.

अकारादिणकारान्तान् मुक्त्वा वर्णन् निरूप्यते ।

ग्रथः प्रबोधसारोयं शेषैरष्टादशाक्षरैः ॥ १ ॥

अर्थः— अकारसे लेकर एकार पाँच अक्षरोंको छोड़कर बाकीके केवल अठारह अक्षरोंसे यह प्रबोधसार नामका ग्रंथ कहता है ।

भावार्थः— यह ग्रंथ केवल—त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह—इन अठारह अक्षरोंसे ही बना है । इसमें—अ आ इ ई उ ऊ क्ष च्छ ल ल ए ऐ ओ औ अं ऊः क ख ग घ ङ च छ ज झ अ ट ठ ड ढ ण—ये अक्षर सर्वथा नहीं हैं ।

मंगलाचरण.

नमः श्रीवीरनाथाय, भव्याम्भोद्भुव्यम्भास्वते ।

परानंदसुधास्यंदस्वादसंवेदनात्मस्मै ॥ २ ॥

अर्थः— जो भगवान् वीरनाथ स्वामी सर्वोत्कृष्ट अनंत सुख रूपी अमृतसे उत्पन्न हुए स्वादका सदा अनुभव करते रहते हैं और भव्य रूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये जो सूर्य है ऐसे श्री वीरनाथ स्वामीके लिये मैं सदा नमस्कार करता हूं ।

भावार्थः— जिस प्रकार सूर्यके उदग होते ही संसारभरके समस्त कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामीके

दिव्योपदेशसे अनेक भव्य जीवोंका निरुद्धयाण हुआ है। इसके सिवाय वे भगवान महाबीर स्वामी अनंत सुखरूप हैं। अनंत सुख उनके आत्मस्वरूप है। इसलिये वे सदा अनंत सुखरूप रहते हैं। ऐसे महाबीर भगवानके लिये मैं इस ग्रंथके प्रारंभमें नमस्कार करता हूँ।

आगे धर्मको नमस्कार करते हूँ।

नमो धर्माय शर्मश्रीरम्यहम्याय सर्वदा ।

संसारदुस्तराम्भोधिसेतवे शिवहेतवे ॥ ३ ॥

अर्थ—जो अद्विसारूप धर्म मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिये मनोहर भवन है, संसाररूपी अपार समुद्रसे पार होनेके लिये पुल है और मोक्षकर साक्षात् कारण है इसे धर्मके लिये मैं सदा नमस्कार करता हूँ।

आगे रत्नत्रयको नमस्कार करते हैं।

वंदे रत्नत्रयं शुद्धमनौपम्यमनश्वरम् ।

भव्या विभूषिता येन वल्लभाः स्युः शिवश्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय शुद्ध है, उपमा रहित है, कभी नाश नहीं होता और जिससे सुशोभित हुए भव्य जीव मोक्षरूपी लक्ष्मीके स्तामी होते हैं ऐसे रत्नत्रयके लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—कर्मोंके क्षय होकर्से रत्नत्रयकी ब्राह्मि होती है इसीलिये यह रत्नत्रय शुद्ध है। संसारमें इसके समान अन्य कोई पदार्थ नहीं है इसलिये यह उपमा रहित है। यह आत्मस्वरूप है—शुद्ध आत्माका स्वभावरूप है इसी लिये कभी नष्ट नहीं होता। तथा रत्नत्रयसे ही मोक्षकी ब्राह्मि होती है इसलिये यह शुद्धात्माका सर्वोत्तम आभूषण है। ऐसे रत्नत्रयको मैं (ग्रंथकार) सदा नमस्कार करता हूँ।

आगे सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हैं।

विना तीव्रतायासैदेवेन्द्रादेविभूतयः ।

सम्पदन्ते सतां येन तद्वन्दे शुद्धदर्शनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस सम्पदर्शनके प्रभावसे सज्जन पुरुषोंको कठिन कठिन ब्रत तप आदिके परिश्रमके बिना भी इन्द्र आदिकी उत्तम उत्तम विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं ऐसे शुद्ध सम्पदर्शनको नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—तत्त्वत्रयमें सम्पदर्शन ही प्रधान है। क्योंकि शुद्ध सम्पदर्शनके प्रभाव होनेपर बिना किसी ब्रतके पालन किये वा बिना किसी तप चारित्र आदिके धारण किये भी भव्य जीवोंको स्वर्गादिकी अनुपम संपदा प्राप्त हो जाती है। यह आत्माका शुद्ध गुण है इसीलिये ग्रंथकार इसे नमस्कार करते हैं।

आगे ग्रंथकार अपनी प्रतिज्ञा कहते हैं।

देशसंयमिनां धर्मो देशतः प्रमिषाद्यते ।

धर्म्यध्यानार्थमारम्भो न सतां हास्यहेतवे ॥ ६ ॥

अर्थ—आगे इस ग्रंथमें संक्षेपसे देशसंयमियोंका अर्थात् श्रावकोंका धर्म निरूपण करेंगे। यह हमारा प्रारम्भ धर्म ध्यानके लिये है सज्जनोंको हँसी करनेके लिये नहीं है।

भावार्थ—इस ग्रंथमें संक्षिप्त श्रावकाचारका कथन है। और वह केवल धर्मकी वृद्धिके लिये है। भव्य जीव इसे पढ़कर धर्म धारण करें, अपने आत्माका कल्याण करें इसीलिये इस ग्रंथका प्रारम्भ किया गया है। इसकी त्रुटियोंको देखकर सज्जनोंको हँसना नहीं चाहिये किंतु शुद्ध कर पठनके द्वारा आत्मकल्याण करना चाहिये।

आगे सम्पदर्शन और मिथ्यादर्शनबत्ती बतलाते हैं।

(तत्त्वार्थानां यथास्थित्या श्रद्धासं दर्शनं मतम् ।

विपरीतं तु मिथ्यात्वं तदश्रद्धानसंभवम् ॥ ७ ॥)

अर्थ—जीव अजीव आदि पदार्थोंका जो यथार्थ स्वरूप है उसीके अनुसार उनका श्रद्धान करना सम्पदर्शन कहलाता है। तथा उन्हीं जीव अजीव आदि यथार्थ तत्त्वोंका विपरीत श्रद्धान करना अथवा

उनका श्रद्धान् नहीं करना अथवा उन यथार्थ तत्त्वोंके विपरीत अन्य पदार्थोंका श्रद्धान् करना मिथ्यादर्शन समश्नना चाहिये ।

आगे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं ।

〈 देवे धर्मे तथा तत्त्वे साधौ समयभाषिते ।

यत्र स्यात्स्थेयसी बुद्धिर्दर्शने तद्विदुवृधाः ॥ ८ ॥

अर्थ—यथार्थ देवमें, यथार्थ धर्ममें, शास्त्रोंमें कहे हुए जीव अजीव आदि यथार्थ तत्त्वोंमें और यथार्थ साधुओंमें जहां निश्चल बुद्धि होती है उसे विद्वान् लोग सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भावार्थ—देव शास्त्र गुरु धर्म और जीवादिक पदार्थोंमें तलबारकी धारके समान निश्चल (अटल वा अडोल) श्रद्धान् करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

आगे यथार्थ देवका लक्षण कहते हैं ।

निर्दोषः सत्यवादीशो देवोऽत्परमेश्वरः ।

सर्ववित्सर्वदेवैन्द्रसंस्तुतांप्रिम्नरोरुहः ॥ ९ ॥ 〉

अर्थ—जो क्षुधा तृष्णा आदि अठाह दोषोंसे रहित हैं, जो सत्यवादियोंके स्वामी हैं, सर्वज्ञ हैं, और समस्त देव इन्द्र जिनके चरण कमलोंकी स्तुति करते हैं ऐसे भगवान् अरहंत देवको देव कहते हैं ।

भावार्थ—मूख, प्यास, बुढापा, रोग, शोक, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्रेष, मोह, चिंता, अरति, खेद, निद्रा, आश्रय, पसीना—ये अठाह दोष कहलाते हैं । भगवान् अरहंतमें ये अठाह दोष नहीं हैं इसीलिये वे निर्दोष वा दोषरहित कहलाते हैं । यह नियम है कि जो निर्दोष होता है वही सर्वज्ञ होता है । इसबत भी कारण यह है कि राग द्रेष आदि सब विकार कर्मोंके उदयसे होते हैं और उन कर्मोंके नाश होनेसे वे दोष सब नष्ट हो जाते हैं । दोषोंकि नष्ट होनेसे ही आत्मा शुद्ध हो जाता है और शुद्ध होनेसे ही उसमें समस्त पदार्थोंकी झलक पड़ने लगती है अर्थात् शुद्ध होतेही आत्मा समस्त पदार्थोंको जानने लगता है

और सर्वज्ञ हो जाता है। भगवान् अरहंतदेव निर्दोष हैं इसीलिये वे सर्वज्ञ हैं। तथा जो निर्दोष और सर्वज्ञ होता है वही सत्य वक्ता होता है। इसका भी कारण यह है कि मिथ्या भाषण या तो अज्ञानतासे होता है या राग द्वेष आदि किसी दोषसे होता है। भगवान् अरहंत देवमें न तो अज्ञान है और न दोष हैं क्योंकि वे निर्दोष और सर्वज्ञ हैं। इसलिये वे भगवान् ही सत्यवादियोंके स्वामी हैं और इसीलिये उनका कहा हुआ आगम कहलाता है। इन सब गुणोंके लाभण ही इंद्रादि देव उनके चरण कमलोंकी पूजा किया करते हैं। इस प्रकार भगवान् अरहंत देव निर्दोष हैं, सर्वज्ञ हैं, सत्यवादियोंके स्वामी हैं और इंद्रादि देवोंके द्वारा पूज्य हैं इसलिये वे ही आस या सच्चे देव हैं। जिसमें ये गुण नहीं हैं वह कभी देव नहीं हो सकता।

आगे कुदेवका स्वरूप बतलाते हैं।

ये शस्त्रादिभूतो रौद्रा द्वेषाद्यः परिवर्तिताः।

शापप्रसादसारंभा न ते देवा भवापहाः ॥ १० ॥

अर्थ— जो चक, गदा, पद्म, धनुष्य, तलवार आदि शस्त्रोंको धारण करते हैं; जिनका स्वरूप भयानक है; जो राग वा द्वेषके कारण सदा नृत्य किया करते हैं; जो रुष्ट हो चानेपर शाप देते हैं और प्रसन्न होनेपर वर देते हैं—ऐसे देव न तो देव नहीं हैं और न वे प्राणियोंको इस संसाररूपी महासागरसे पार कर सकते हैं।

भावार्थ— राग द्वेष ही संसारमें डुबानेवाले हैं। हन्हींके कारण शस्त्र धारण करने पड़ते हैं और प्रत्येक ऋर्यकी पूर्तिके लिये नाचना पड़ता है। इसलिये जो राग द्वेषसे रहित होता है—इन दोनोंको नष्ट कर देता है वही यथार्थ देव हो सकता है। शस्त्रोंका धारण करना राग द्वेषका चिन्ह है; खींखना काम और मोहका चिन्ह है और शाप व वर का देना राग द्वेष दोनोंका चिन्ह है। इसलिये जिस देवमें ये सब दोष हों अथवा हनमेंसे कोई एक दो हों वह कभी देव नहीं हो सकता। वह भी हमारे

समान संसारी ही है। उसमें और हर्मन कोई अंतर नहीं है। अतएव धर्मकी बुद्धिके लिये और आत्माको शुद्ध भृत्यनेके लिये अथवा संसारसमुद्रसे पर होनेके लिये कभी ऐसे देवोंकी पूजा नहीं करनी चाहिये। पूज्य पुरुष आदर्श पुरुष होता है और वैसा ज्ञानेके लिये ही उसकी पूजा की जाती है। जब वह स्वयं राग द्वेषसे परिषुर्ण है तब उसकी पूजा करनेवाले राग द्वेष रहित कैसे हो सकते हैं? इत्रलिये ऐसे देवोंकी पूजा करनेसे इस जीवका कल्याण कभी नहीं हो सकता।

आगे धर्मका स्वरूप कहते हैं।

(दयामूलं यतो धर्मः सत्तानां शान्तिदः सदा ॥

शिवसौधस्य सोपानं सर्वैर्धर्यप्रसाधनम् ॥ ११ ॥)

अर्थ—समस्त जीवोंकी दया पालन करना ही धर्म है क्योंकि वहाँ ही समस्त प्राणियोंको सदा सुख फेंहुचानेवाली है। यही मोक्षरूप भवनकी सीढ़ी है और समस्त धनधार्यादि संपदाओंको देनेवाली है।

भावार्थ—जिससे सुख शांति मिले, जो संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें पहुंचा दे उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म एक दया ही है इससे छोटे बड़े सब जीवोंको सुख मिलता है और इसीलिये यह मोक्षका कारण है। तथा इंद्र चकवर्ती आदि की विभूतियाँ भी इसी दया धर्मसे प्राप्त होती हैं।

आगे अधर्म वा मिथ्याधर्म कालाते हैं।

मिथ्याबुद्धिभिराम्नातो हिंसाद्यैर्विपदास्यदाम् ।

धर्मधर्मेति नाम्नैव न धर्मायं सतां मतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मिथ्या हृष्टियोंके द्वारा कहा हुआ है हिंसा इूठ चोरी आदि पापोंके कारण जो नकादिक अनेक दुखोंका कारण है और जो केवल नामसे ही धर्म कहा जाता है वह वास्तविक धर्म नहीं है उसे सज्जन लोग कभी धर्म स्वीकार नहीं कर सकते।

भावार्थ—जिसमें हिंसा इूठ चोरी कुशील आदि महा पापोंके

करनेका उपदेश दिया हो वह कभी धर्म नहीं कहला सकता । ऐसे धर्मका उपदेश अल्पज्ञानी मिथ्याहृष्टी ही दे सकते हैं । क्योंकि महा मोहके कारण वे स्वयं उस धर्मका स्वरूप नहीं समझते । केवल इंद्रियोंको पुष्ट करनेके लिये और विषयवासनार्की पूर्तिके लिये ऐसा उपदेश देते हैं । परंतु ऐसे धर्मसे जीवोंका कल्याण कभी नहीं हो सकता । जीवोंका कल्याण तो पापोंके छोड़नेसे होता है और पापोंमें मुख्य पाप हिंसा है । झूठ चोरी कुशील आदि अन्य सब पापोंमें भी हिंसा होती है इसलिये ही वे पाप गिने जाते हैं । यदि पूर्णरूपसे हिंसा का त्याग हो जाय तो फिर सहजमें ही सब पापों का त्याग हो जाता है । और सब पापोंके त्याग हो जानेसे ही आत्मा शुद्ध हो जाता है । इसलिये एक अहिंसा ही परम धर्म है । यही सब जीवोंके सुखभी कारण है ।

आगे साधु वा गुरुका स्वरूप कहते हैं ।

सर्वसत्त्वहिताः शान्ताः स्वदेहेर्ग्नि हि निस्पृहाः ।

यत्यो ब्रह्मतत्त्वस्था यथार्थपरिकादिनः ॥ १३ ।

अर्थ—जो समस्त जीवोंका हित करने वाले हैं, अपने शरीरसे भी जिन्होंने ममत्व छोड़ दिया है, जो शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन रहते हैं और जो यथार्थ मोक्षमार्ग का स्वरूप कहनेवाले हैं उन्हें सुनि वा गुरु कहते हैं ।

भावार्थ—जो अपने शरीर से भी ममत्व छोड़कर शुद्ध आत्मामें लीन रहते हैं वे ही शांत होते हैं, वे ही यथार्थ मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं और उन्हींसे सब जीवोंका कल्याण होता है ।

आगे कुशुरुका स्वरूप कहते हैं ।

सर्वसावधासंपन्नाः संसारारम्भवर्त्तिनः ।

सलोकाः समदाः सेष्याः समाना यत्यो न ते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो खेती करना, बाग बमीचा लगाना, कुआ बाबड़ी खुदबाना आदि हिंसाके सब काम करते हैं; जो जन्म मरण रूप संसारमें परिभ्रमण

करने वाले हैं; जो लोभी हैं; अभिभानी हैं; अन्य लोगोंसे ईर्ष्या वा डाह करते रहते हैं वे कभी मुनि कहलान्ते नहीं जा सकते ।

आगे यथार्थ तत्त्वोंको कहते हैं ।

तत्त्वं प्रमाणयाधीनं निर्देषार्हत्प्रभाषितम् ।

पूर्वापरविरोधादिदोषदूराग्निस्थितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो तत्त्व प्रमाण और नयोंसे सिद्ध किये हुए हैं निर्देष भगवान् अरहंत देवके कहे हुए हैं और पूर्वापर विरोध आदि कोई दोष जिनमें नहीं आता वे ही वास्तविक तत्त्व कहलाते हैं ।

भावार्थ—जो भगवान् अरहंत देवके कहे हुए हैं वे ही वास्तविक तत्त्व हैं क्योंकि भगवान् अरहंत देव निर्देष और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे तत्त्वोंका स्वरूप मिथ्या कभी नहीं कह सकते । और न उनके कथन में किसी प्रकारका विरोध आसकता है । जो अज्ञानी हैं अथवा राग द्वेष आदि दोषों के आधीन हैं उन्हींके कथनमें विरोध आसकता है । भगवान् अरहंत देवके कहे हुए तत्त्व ही प्रमाण नयके आधीन रह सकते हैं अन्य नहीं ।

आगे अतत्त्व वा मिथ्या तत्त्वोंको कहते हैं ।

पूर्वापरविरोधाद्यैरद्वैतादिनन्यैस्तथा ।

विरुद्धं यद्वेतत्त्वं तत्र तच्च सतां मतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनमें पूर्वापर विरोध आता है ऐसे अद्वैत आदि नयोंसे जो तत्त्व सर्वथा विरुद्ध हो जाते हैं—अपने यथार्थ स्वरूपसे विपरीत हो जाते हैं उन्हें सज्जन लोग कभी तत्त्व नहीं मानते ।

भावार्थ—पदार्थोंका स्वरूप सर्वथा द्वैत माना जाय अथवा अद्वैत माना जाय तो अनेक प्रकारके दोष आते हैं तथा पदार्थोंका स्वरूप सर्वथा विरुद्ध हो जाता है । इसलिये पदार्थोंका ऐसा स्वरूप मानना अतत्त्व वा मिथ्या तत्त्व है । ऐसे तत्त्वोंका श्रद्धान् करना मिथ्या दर्शन कहलाता है ।

आगे सम्यगदर्शनकी प्रशंसा करते हैं ।

स्वामिनेव विना सैन्यमात्मनेऽविना वपुः ।

दर्शनेन विना सर्वं वृथा व्रततयस्तथा ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विना स्थार्मकि सेना व्यर्थ है और आत्माके विना शरीर व्यर्थ है उसी प्रकार सम्यगदर्शनके विना व्रत पालन करना तपश्चण करना आदि सब व्यर्थ है ।

हीनोपि वृत्तबोधाभ्यां प्रशस्यो दर्शनी भवेत् ।

युतोपि वृत्तबोधाभ्यां न शस्यो दर्शनाद्वते ॥ १८ ॥

अर्थ—सम्यगज्ञान और सम्यक् चारित्रके विना भी सम्यादृष्टि प्रशंसनीय निना जाता है । परंतु विना सम्यगदर्शनके सम्यगज्ञान और सम्यक् चारित्र धारण करलेनेपर भी वह प्रशंसनीय नहीं गिना जा सकता ।

भावार्थ—रत्नत्रयमें सम्यगदर्शन ही मुख्य है । सम्यगदर्शनके होनेपर ही सम्यगज्ञान और सम्यक् चारित्र हो सकते हैं, विना सम्यगदर्शनके नहीं । विना सम्यगदर्शनके ज्ञान सब मिथ्या ज्ञान हैं और चारित्र सब मिथ्या चारित्र है । विना सम्यगदर्शनके व्रत, जप तप आदि भी सब व्यर्थ है । इसलिये मनुष्यजन्म ग्राकर सबसे पहिले सम्यगदर्शन धारण करना चाहिये ।

आगे सम्यगदर्शनकी और भी सामर्थ्य दिखलाते हैं ।

मुरासुरनराधीशसम्पदां पदमुत्तमम् ।

दातुं भवाम्बुधेः पारं नेतुं तस्येव वैभवम् ॥ १९ ॥

अर्थ—इंद्र भवनेन्द्र और नरेन्द्र आदिकी संपदाओंको प्राप्त कराने वाले उत्तम उत्तम पदोंके देनेकी, और संसाररूपी महासागरसे पार करनेकी सामर्थ्य इसी एक सम्यगदर्शनमें है ।

भावार्थ—देव इंद्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतियां और पद इस सम्यगदर्शनके ही प्रभावसे प्राप्त होते हैं तथा अन्तिम और परमानंद अनंत सुखको धारण करनेवाली मोक्ष भी इसी एक सम्यगदर्शनके प्रभावसे प्राप्त होती है ।

आगे सम्यदर्शनके दोषोंके लिये कहते हैं ।

संदेहादिमहादोषैर्दर्शनं तप्तमलीमसम् ।

स्वसाध्यं साधयेन्नैव यथा नौर्विवर्त्युता ॥ २० ॥

अर्थ—जो सम्यदर्शन शंका कांक्षा आदि महादोषोंसे मलिन होता है वह सम्यदर्शन अपनी इष्ट सिद्धिको कभी सिद्ध नहीं कर सकता । भला, जिस नावमें अनेक छिद्र हो गये हैं वह कभी पार पहुंचा सकती है ? कभी नहीं ।

भावार्थ—शंका कांक्षा, विनिष्ठिकित्सा, अन्यधर्मप्रशंसा और अन्यधर्मस्तुति ये पांच सम्यदर्शनके दोष। कहलाते हैं । जिस प्रकार अनेक छिद्रोंसे जर्जरित हुई नावसे कोई पाए नहीं पहुंच सकता उसी प्रकार ऊपर लिखे दोषोंसे मलिन हुए सम्यदर्शनसे कोई मुक्त नहीं हो सकता ।

आगे सम्यदर्शनकी भावना कहते हैं ।

दर्शनभावनां प्राहुः प्रमाणतेषु वस्तुषु ।

आंतिसंदेहसंमोहदूरितं वेदनं हि तत् ॥ २१ ॥

अर्थ—प्रमाणसे निश्चय किए हुए पदार्थोंको संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जानना सम्यदर्शनकी भावना कहलाती है ।

भावार्थ—पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेसे उन पदार्थोंका श्रद्धान हृद हो जाता है । और श्रद्धान हृद हो जानेसे सम्यदर्शन सुदृढ बना रहता है । इसीलिये यथार्थ पदार्थोंके जाननेको सम्यदर्शनकी भावना कहा है ।

आगे मिथ्या दर्शनको कहते हैं ।

वेदने दर्शने वृत्ते विपर्ययाभ्यर्थं मनः ॥

मिथ्यात्वं त्रिषु भाषन्ते स्त्रयः सर्वदेहिनः ॥ २२ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान और चार्त्तिमें विपरीत भाव होनेको मिथ्यात्व कहते हैं । इस प्रकार आचार्योंने सब प्राणियोंके लिये यह मिथ्यात्वका स्वरूप बतलाया है ।

आगे ऐसे मिथ्यादृष्टियोंको कार्य उपदेश अच्छा नहीं लगता यह बतलाते हैं।

प्रायः प्रत्युत तापाय यथार्थस्योपदेशनम् ॥

यथा निर्वृतनाशस्य विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिन लोगोंकी नाक कटी हुई है ऐसे मनुष्योंको निर्मल दर्पण दिखलानेसे बुरालगता है और अपनी कटी नाक देखकर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवोंको यथार्थ पदार्थोंका उपदेश देनेसे संताप होता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव अनादि कालके संस्कार और प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे पदार्थोंके मिथ्या स्वरूपमें ही विश्वास कर रहे हैं। उनमें कितने ही तो इतने प्रबल मिथ्यात्मी हैं कि जीवका अस्तित्व तक नहीं मानते और इसीलिये वे मनमाने अत्याचार अनत्याचार और पाप करते हैं। यदि उनको पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप समझाया जाता है और जीवादि पदार्थोंका अस्तित्व बतलाकर पाप कार्योंके छोड़नेका उपदेश दिया जाता है तो उन पाप कार्योंके छोड़नेकेलिये वे बड़े दुःखी होते हैं तथा अनादि कालके अभ्यास और मोहनीय कर्मके प्रबल उदय होनेके कारण उन्हें छोड़ नहीं सकते इसलिये वे यथार्थ उपदेशको सुनकर दुःखी और संताप होते हैं और प्रायः क्रोध करने लग जाते हैं। इसलिये यथार्थ पदार्थोंका उपदेश भद्र पुरुषोंके लिये ही कार्यकारी होता है, गाढ़ मिथ्यात्मी जीवोंके लिये नहीं। जो जीव मिथ्यात्मी होते हुए भी जिनशासनसे द्वेष नहीं रखते—मोहनीय कर्मके संद उदयसे जिनशासनमें प्रेम रखते हैं उन्हें भद्र कहते हैं। ऐसे पुरुष यथार्थ उपदेश मिलनेपर सम्यग्दर्शन ग्रहण कर सकते हैं। इसलिये ऐसे पुरुषोंको यथार्थ उपदेश अवश्य देना चाहिये।

आगे शंका दोषको कहते हैं।

तत्त्वमेतदिदं तत्त्वमेतद्रुतमिदुं व्रतम् ।

देवोयमेष देवः स्यादित्ययं संशयो मतः ॥ २४ ॥

अर्थ—तत्त्वोंका स्वरूप यह है, अथवा यह है; व्रत ये हैं अथवा ये हैं; यथार्थ देव ये हैं अथवा ये हैं—इस प्रकार मनके चंचल होनेको संशय अथवा शंका दोष कहते हैं।

भावार्थ—देव तत्त्व और अतोंके स्वरूपमें शंका करना शंका दोष है। जिसके मनमें संदेह बना रहता है उसका मन कहीं भी निश्चल नहीं हो सकता। और देव शास्त्र गुरुमें मनके निश्चल हुए विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। तथा विना सम्यग्दर्शनके आत्मकल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार शंका दोषसे आत्माका कल्याण होना ही रुक जाता है। इसलिये भव्य जीवोंको भगवान् अरहंत देवके कहे हुए तत्त्वोंमें संदेह कभी नहीं करना चाहिये। उनमें निश्चल रीतिसे मनको लगाकर हृद श्रद्धान करना चाहिये।

आगे शंका दोषसे होनेवाली हानिको दिखलाते हैं।

तथा संदेहभावेषु न स्यादर्शनशुद्धता ।

नैवास्मन्मीपितावासिर्येष्वोभयवेतने ॥ २५ ॥

अर्थ—यदि भगवान् अरहंत देवके कहे हुए तत्त्वोंमें संदेह बना रहे तो फिर उससे सम्यग्दर्शन शुद्ध कभी नहीं हो सकता और न उस सदोष सम्यग्दर्शनसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार दो राजाओंकी सेवा करनेवाले सेवकको बुद्ध भी प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई सेवक एक साथ दो राजाओंकी सेवा करे तो वह दोनोंमेंसे किसी की भी अच्छी सेवा नहीं कर सकता और न किसीको प्रसन्न कर सकता है। और इसलिये उसे उस सेवाका कुछ भी कल नहीं मिल सकता। इसी यकार जो पुरुष यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के पदार्थोंमें श्रद्धान ग्रहते हैं उनका सम्यग्दर्शन कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये पदार्थोंकि यथार्थ स्वरूपमें कभी संदेह नहीं करना चाहिये।

तत्त्वे बुद्धे धने लब्धे पाँड वा समुपस्थिते ।

यस्य दोलायते स्वान्तं सोऽग्रमः स्याद्वद्वये ॥ २६ ॥

अर्थ— तत्त्वोंका ज्ञान हो जानेपर, धनके प्राप्ति हो जानेपर और पात्रके आ जानेपर जिसका मन संदेहके झूलेमें झूल करता है वह इसलोक परलोक दोनों लोकोंमें नीच गिना जाता है ।

भावार्थ— तत्त्वोंका ज्ञान होनेपर उन तत्त्वोंमें निश्चल बुद्धि अथवा हृष्ट श्रद्धान हो जाना ही चाहिए । यदि तत्त्वज्ञान होनेपर भी हृष्ट श्रद्धान न हो और उन तत्त्वोंमें प्रदेह बना रहे तो उसे नीच ही समझना चाहिये । क्योंकि प्रथम तो मनुष्य पर्याय प्राप्त होना ही अत्यंत कठिन है । और फिर उसमें भी तत्त्वज्ञान होना अत्यन्त कठिन है । ऐसा संयोग पाकर भी आत्मकल्याणके मार्गमें न लगाना सिवाय अधोगतिके और कुछ सूचित नहीं करता । इसलिए तत्त्वज्ञान होनेपर हृष्ट श्रद्धान करना अत्यन्त आवश्यक है । इसी प्रकार धनके प्राप्त होनेपर दान देना आवश्यक है । धनका प्राप्त होना भी बड़े पुण्योदयसे होता है । और मनुष्य पर्यायके सिवाय अन्य पर्यायोंमें दान देनेका सुयोग नहीं मिलता । इसलिये धन प्राप्त होनेपर दान देना जाहिये । जिन भगवान, जिनविष, स्वाध्यायशाला, पाठशाला आदि बनवाना चाहिये और तीर्थयात्रादि कर पुण्योपार्जन करना चाहिये । तथा इसी प्रकार अपने द्वारपर पात्रके आ जानेपर उसे आहारदान अवश्य लेना चाहिये । क्योंकि पात्रका संयोग बड़ी कठिनतासे मिलता है । और वह मनुष्य पर्यायमें ही दिया जा सकता है । इसलिये पात्रका संयोग मिल जानेपर आहारदान देनेमें कभी संदेह नहीं करना चाहिये ।

आगे कांक्षा दोषको कहते हैं ।

देवः स्यां दानवः स्यां वा म्यामहं वसुधापतिः ।

यदि दर्शनमाहात्म्यमितीहा तस्य दूषिता ॥ २७ ॥

अर्थ—यदि सम्यदर्शनमें कुछ महात्म्य है—यदि सम्यदर्शनमें कुछ सामर्थ्य है तो मैं इसके प्रभावसे अगले जन्ममें देव हो जाऊं, दानव

हो जाऊं अथवा राजा हो जाऊं—ऐसी इच्छा रखना सम्यदर्शनको दृष्टि करना है।

भावार्थ—सम्यदर्शन आत्माका एक गुण है। और वह दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुबंधी कर्मोंके नष्ट होनेसे उत्पन्न होता है। सम्यदर्शन के उत्पन्न होनेपर आत्मामें एक प्रेसा प्रकाश प्रगट हो जाता है जिससे यह आत्मा स्वपर भेदका ज्ञान ले लेता है। अर्थात् “आत्माके सम्यदर्शनदि गुण मेरे हैं। तथा धन आन्य आदि विभूति और शरीर आदि सब पदार्थ पौद्धलिक हैं। इनसे मेरा कोई संबंध नहीं है। इसलिये मुझे इनसे सर्वथा ममत्व छोड़ देना चाहिये ” इस प्रकार का भान हो जाता है। ऐसा भान होनेपर फिर किसी भी सम्यदर्शीको ममत्व नहीं रहता और उनके पास होनेकी इच्छा सर्वथा छूट जाती है। क्योंकि फिर वह उन पदार्थोंको अपना नहीं गिनता। उन्हें सर्वथा आत्मासे भिन्न मानता है। यदि इस प्रकारका आत्मप्रकाश प्राप्त हो जानेपर और स्वपर भेद विज्ञान हो जानेपर भी कोई परिक्रमें अच्छे फद प्राप्त होनेकी या अच्छी अच्छी विभूतियाँ प्राप्त होनेकी। इच्छा करे तो सम्झना चाहिये कि उस के उत्पन्न हुआ वह प्रकाश वास्तविक प्रकाश नहीं है। यदि है तो वह अत्यन्त ही मंद वा सदोष है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसी इच्छा करनेवालेके न तो शुद्ध सम्यदर्शन हो सकता है और न शुद्ध सम्यदर्शीके ऐसी इच्छा हीं सकती है। इसलिये यदि सम्यदर्शनको शुद्ध रखना है और शीघ्र हो आत्माका कल्याण करना है तो निदान वा आगामी भोगोंकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

दूसरी बात यह भी है कि इच्छा करनेसे कुछ मिल योड़े ही जाता है। मिलना तो पुण्य कर्मके आधीन है। यदि पुण्य कर्मका उदय होगा तो विना किसी इच्छाके भी मिल जायगा, यदि पुण्य कर्मका उदय नहीं होगा तो इच्छा करनेसे भी कभी मिल नहीं सकता हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि पुण्यकर्मका उदय प्रवल हो और इच्छा थोड़ीसी करे तो उस

समस्त पुण्य कर्मके बदले उसकी वह इच्छा पूरी हो जाती है। इस प्रकारसे भी इच्छा करनेमें हानि ही है। इसलिये इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये । *

आगे काक्षा दोषसे होनेवाली हानियां दिखलाते हैं ।

तुषतील्येन रत्नानि पीयूषं वा तुषाम्बुना ॥

दत्तानि तेन बालेन निदानं र्णन संश्रितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिसने सम्यदर्शन पाकर से निदान किया, वा आगामी भोगोंकी इच्छा की उस मूर्खने रत्नोंको गूलीके बराबर तौलकर बेच दिया अथवा अमृतको तृणके ऊपर आये हुए गानीके बदले दे दिया ।

* कहा भी है—

देवधेनुर्धने यस्य यस्य हस्ते सूरदुमः ।

चिन्तामणिमणिप्रायं दर्शनं सर्वसौरुषदम् ॥

अर्थ—सब प्रकारके सुख देनेवाला सम्यदर्शन जिसके प्रगट हो गया है उसके धनमें सब प्रकार के सुख देनेवाला कामधेनु शामिल समझना चाहिये तथा उसके हाथमें कल्पवृक्ष ही समझना चाहिये; क्योंकि यह सम्यदर्शन चितित पदार्थोंको देनेवाला चिंतामणि रत्नके समान है ।

शानं कामगवीतुल्यं वृत्तं कल्पतरुपमम् ।

तपः स्पर्शोपलप्रायं शमः सर्विषिसमिभः ॥

अर्थ—सम्यज्ञान कामधेनुके समान है, सम्यक्चारित्र कल्पवृक्षके समान है, सम्यक् तप पारस्पर पाशाण के समान है और शांत परिणाम ऐष निषिके समान है ।

पञ्चरत्नमिदं प्राप्य सर्वदा सुमुखे मम ।

सोऽप्यन्यप्रार्थनां दीनास्तहि मोहो महोदयी ॥

अर्थ—इस पकार सम्यदर्शन सम्यज्ञान सम्यक्चारित्र सम्यक् तप और शांत परिणाम ये पांच रत्न हैं। इन्हे पाकर भी जो अन्य वस्तुकी प्रार्थना रखता है तो कहना चाहिये कि उसका मोह अभी बल्यान है ।

भावार्थ इन अत्यन्त ही बहुमूल्य पदार्थ हैं। और अमृत तो अमूल्य है अथवा वह अप्राप्य है—कहीं मिलता ही नहीं। यदि इन दोनों को न कुछ के बदले दे दिया जाय तो उस देनेवालेकी निरी मूर्खता ही समझनी चाहिये। इसी प्रकार सम्यदर्शन तो रत्न और अमृतसे भी बढ़कर श्रेष्ठ है। यदि उपर्युक्तों पाकर उसे थोड़ीसी इच्छाके बालालसाके बदले बेच दिया जाय तो उसकी वह मूर्खता उससे भी बढ़कर है। इसलिये सम्यदर्शनसा रत्न पाकर फिर निधान वा आगामी भोगोंकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे भी इसी बातको दिखलाते हैं।

धर्मः संहारितस्तेन तेनात्मा हारितः स्वयं ॥

येनैताः प्रार्थिता हंत इर्णनाद्विसंपदः ॥ २९ ॥

अर्थ—बड़े दुःखके साथ रुहना पड़ता है कि जिसने सम्यदर्शन को पाकर भी उससे संसारकी संपदाओंकी प्रार्थना की उसने अपना धर्म खो दिया अथवा वह स्वयं अपने आत्माको हार गया।

भावार्थ—सम्यदर्शन ऐसे महारत्नको पाकर भी फिर निधान करना अथवा भोगोंकी इच्छा करना अपने धर्म और आत्माको खो देना है। इसलिये आत्माका कल्याण नहेवाले धर्मत्मा भव्य जीवोंको कभी निधान वा भोगोंकी लालसा नहीं करना चाहिये।

आगे सम्यदर्शनकी महिमा दिखलाते हैं।

शिवस्थाने मनो यस्य शेवं वा यस्य मानसे ।

श्रियस्तं स्वयमायान्ति श्रोतस्विन्यो यथाम्बुधिम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जिसका मन मोक्षमानमें लगा हुआ है अथवा मोक्ष जिसके मनमें विराजमान है उसके पास संसारभरकी समस्त संपदाएं अपने आप आ जाती हैं। जैसे नकियाँ सब समुद्रमें अपने आप पहुंच जाती हैं।

भावार्थ—सम्यदष्टी का इसी मन मोक्षमें लगा रहता है। विना

सम्यग्दर्शनके यह आत्मा मोक्षमार्गमें लापता ही नहीं। अथवा यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टी के मनमें ही मोक्ष प्राप्त होनेकी उत्कट लालसा लगी रहती है, और ऐसे सम्यग्दृष्टियोंके समीप अपने आप सब प्रकारकी संपदाएं आजाती हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टियोंको कभी किसी चीजकी इच्छा नहीं करनी चाहिये । ३० ॥

आगे विनिंदा नामके दोषको कहते हैं ।

तीव्रं तपो यतीन्द्रेषु नेदं संवादि सर्वथा ।

स्नानाभावादिदोषैः स्थादपकादशतेर्युतम् ॥ ३१ ॥

मंदबुद्धिर्महाभोहादित्थं विप्रोतेपद्यते ।

विनिंदा नाम तस्यायं दोषः स्यादर्शनाश्रयः ॥ ३२ ॥

अर्थ— “मुनिराजोंका यह शर्पेर जो मलिन हो रहा है वह उनके तीव्र तपश्चरणसे नहीं हो रहा है किंतु स्नान न करने आदि दोषों से और सैकड़ों अपवादोंसे ऐसा मलिन हो रहा है” इस प्रकार जो प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे मूर्ख पुत्रके विपरीत ज्ञान होता है वह सम्यग्दर्शनके आश्रय होनेवाला उस। मूर्खका विनिंदा नामका दोष कहलाता है ।

भावार्थ— मुनिराज कठिन कठिन तपश्चरण करते हैं । वे अपने शरीरसे सर्वथा ममत्व छोड़ देते हैं—उसे वे कभी हितकारी नहीं समझते । इसलिये वे स्नान करना वा अन्य किसी प्रकारसे उसे सुख पहुंचाना आदि कियाएं कभी नहीं करते । गर्भिके देनोंमें वे कठिन तपश्चरण करनेके लिये पर्वतोंपर कायोत्सर्ग धारण कर बिराजमान होते हैं । उस समय पसीना भी आता है और उस पसीना पर उँड उड कर धूलि भी जम जाती है । इस प्रकार उनका शरीर मलिन हो जाता है । तथापि वे अपने शुद्ध परिणामोंसे कभी नहीं डिगते । वे उस मलिन परिषहको बराबर सहन करते रहते हैं और इस प्रकार वे अपने तपश्चरणको और भी कठिन कर लेते हैं । परंतु मूर्ख लोग अपने प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे प्रतिकूल

ही समझता है। वह समझता है कि यह मुनिराजका तपश्चरण नहीं है। किंतु स्नान न करनेसे तथा और भी ऐसे ही ऐसे अनेक कायोंसे होने वाली मलिनता है। उस मूर्खके ऐसे विपरीत भावोंको ही विनिदा नामका दोष कहते हैं। जिसके यह दोष ब्रह्मोता है उसके सम्बद्धर्णन हो नहीं सकता। यदि होगा तो अत्यंत मुङ्गिन होगा।

स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यज्ञ पीतः श्रुतांबुधिः ।

बुद्धिर्वा तादृशी नैव श्रुततत्त्वार्थवेदिनी ॥ ३३ ॥

अर्थ—इस विनिदा नामके दोषके उत्पन्न होने में मुनिराजका कोई दोष नहीं है किंतु यह दोष उस बिपरीत परिणाम वालेका ही है। और इसका भी कारण यह है कि उसने श्रुतज्ञान रूपी महासागरका जल पीया नहीं है। अथवा शास्त्रोंमें कहे हुए तत्त्वोंको जाननेवाली उसकी वैसी बुद्धि ही नहीं है।

भावार्थ- जो मनुष्य शास्त्रोंमें कहे हुए तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं जानता अथवा जिसने कभी भगवान् अरहंत देवके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास वा पठन पाठन किया ही नहीं है उसीके यह विनिदा नामका दोष होता है। क्योंकि वह आत्मा और शरीरका स्वभाव ही नहीं समझता और न तपश्चरणका वा चास्तिका स्वरूप जानता है। इसीलिये वह उस तपश्चरणको ही सदोष समझ लेता है। परंतु यह उसकी अजानकारीका दोष है; और कुछ नहीं है।

(आगे इसी बातको उदाहरण दिखलाकर कहते हैं।

महाशुद्धं स्वयं व्योम दृश्यते यन्मलीमसम् ।

नायं व्योमस्थितो दोषः स दोषो न यनाश्रितः ॥ ३४ ॥

अर्थ—आकाश अपने आप महा शुद्ध है तथापि उसमें जो मलिनता दिखाई पड़ती है वह उस आकाशकी मलिनता नहीं है। किंतु वह नेत्रोंमें होनेवाला एक प्रकारका दोष है।)

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश शुद्ध होनेपर भी केवल नेत्रोंके

४३

दोषसे मलिन दिखाई पड़ता है। आवश्यक अमूर्त पदार्थ है उसमें मलनता किसी प्रकार आ नहीं सकती। मलिनता पुद्धलका पर्याय है, वह आकाश में रह नहीं सकता। इस लिये आकाश कभी मलिन हो नहीं सकता। परंतु फिर भी जो मलिन दिखाई देता है वह केवल नेत्रों का दोष है, इसी प्रकार मुनिराज का शरीर भी अन्यगुणोंके प्रगट होने के कारण तथा तपश्चरणके कारण अत्यंत पवित्र है तथापि अज्ञानी उसे मलिन जानते हैं। यह केवल उन्हींका दोष है; अन्य किसीका नहीं।

आगे विनिदा दोषसे होनेवाली हानियां दिखलाते हैं।

(तत्त्वं विनिन्दयेदस्तु देहदोषस्य दर्शनात् ।

संसभाव्य मलं लोहे समलं हेम मन्यते ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी शरीरके दोष देखकर पवित्र आत्माकी निंदा करता है वह लोहेमें उत्पन्न होनेवाले गूँजको जानकर सोनेको भी मल सहित समझ लेता है।)

भावार्थ—जिस प्रकार मललोहेमें ही होता है; सुवर्णमें नहीं। उसी प्रकार यह शरीर ही मलिन है। आत्मा मलिन नहीं है। परन्तु अज्ञानी जीव पवित्र आत्माको भी मल सहित अथवा सदोष मान लेते हैं। यह केवल उनकी भूल है।

आगे शरीरकी अपवित्रता दिखलाती है।

स्वस्यान्यस्यापि देहोयं बहिः शोभामनोहरः ।

मध्ये मीमांस्यमानः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥ ३६ ॥

अर्थ—अपना अथवा दूसरेका प्रवक्ता यह शरीर केवल बाहिरकी शोभासे सुंदर दिखाई पड़ता है। यदि इसकी भीतरकी अवस्थापर विचार किया जाय तो वरगद अथवा गूँजके समान अत्यंत घृणा करने योग्य और इसीलिये त्याग करने योग्य निश्चित हो जाता है।

भावार्थ—वरगद अथवा गूँज बाहिरसे बहुत सुंदर दिखाई पड़ते हैं। परंतु उसके भीतर असंख्यात कीर्द्ध भरे रहते हैं जिन्हें देखते ही

घृणा और छोड़ने की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार यह शरीर भी बाहर के चमड़े से कुछ अच्छा ज्ञान पड़ता है। परंतु इसके भीतर सिवाय मल मूत्र हड्डी मांस रुधिर आदि के और कुछ नहीं है। इन मांस रुधिर आदि मल के सामने शरीर पर जमा हुआ पसीना धूलि मिट्टी आदि का मल कुछ भी नहीं है। परंतु फिर भी अज्ञानी जीव इस शरीर की भीतरी अवस्थापर कुछ विचारन करके केवल बाहरी मल से ही घृणा करने लग जाते हैं। और वह घृणा यहांतक बढ़ जाती है कि उस शरीर में रहने वाले पवित्र और रत्नत्रय आदि सर्वोल्कृष्ट गुणों से सुशोभित आत्मा-को भी अपवित्र और मल सहित समझने लगता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह उसकी अज्ञानता वा अज्ञानकारी है और कुछ नहीं है।

आगे मिथ्यादर्शनप्रशंसा नार्मके दोषको कहते हैं ।

महामंत्रं महाविद्यां महाशीलं महात्रतम् ।

मिथ्यादृशां न शंसंति गोधसंविद्वदर्शनाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिनका सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान से सुशोभित है ऐसे भव्य जीव मिथ्यादृष्टियों के महामंत्र, महाविद्या, महाशील और महात्रत आदि किसी की प्रशंसा नहीं करते हैं ।)

भावार्थ—मिथ्यादृष्टियों के मंत्र, विद्या, शील और त्रत आदि सब मिथ्या ही होते हैं क्योंकि उससे मिथ्यात्व की पुष्टि होती है इसलिये वे कभी प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते । विद्या शील त्रत आदि वे ही प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं जो मोक्षमार्ग के सहायक हैं अथवा मोक्ष प्राप्त होने के साधन हैं । सम्यग्दृष्टि स्वयं मोक्ष मार्गमें लगा है । वह ऐसे ही त्रत शील मंत्र विद्या आदि विनों प्रशंसा कर सकता है जो सम्यक् हों—मोक्ष मार्ग के सहायक हों । जो मन्त्रादिक मिथ्यात्व के कारण हैं और इसी लिये जो संसार परंपराके कारण हैं उनकी प्रशंसा सम्यग्दृष्टि कभी नहीं कर सकता ।

आगे इसी बातको उदाहरणपूर्वक दिखलाते हैं ।

(यथा तुंबीफले न्यस्तं पशोऽपेषं भवेद् ध्रुवम् ।

तथा सर्वं तपः शीलं मिथ्यात्वविपूषितम् ॥ ३८ ॥)

अर्थ—जिस प्रकार कडवी तुंबीमें दुःख हुआ दूध पीने योग्य नहीं रहता- वह अवश्य ही फेंकदेने योग्य हो जाता है । उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित तप शील आदि भी सब त्याग करने योग्यवा व्यर्थ हो जाता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कडवी तुंबीमें रखके हुए दूधको पीनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्वके साथ होनेवाले तप शील आदिसे भी संसारपरंपराके ही दुःख भोगने पड़ते हैं । उस तप शीलसे आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता और इसी लिये वह कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकता ।

वहिर्बहिर्महारम्या मिथ्यात्वमत्सम्पदः ।

पश्यतामन्तरं वस्तुशून्या बुद्ध्वदसन्निभाः ॥ ३९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियोंके मतमें प्राप्त होनेवाली संपदाएं बाहरसे ही मनोहर दिखाई पड़ती हैं । यदि उनकी भीतरी अवस्था देखी जाय तो निश्चय हो जाता है कि वे सब संपदाएं वास्तविकतासे खाली हैं और जलके बुद्धुदके समान क्षण भर ही ठर्णीवाली हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार जलका कुछ बुद्ध ऊपरसे तो सुंदर दीखता है परंतु उसके भीतर कुछ नहीं है—वह भीतरसे खाली ही होता है और अधिक देर तक वह ठहर भी नहीं सकता—क्षणभरमें ही नष्ट हो जाता है । उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके मतमें प्राप्त होनेवालीं संपदाएं ऊपरसे ही अच्छी जान पड़ती हैं—उनके भीतर कुछ सार नहीं है और न वे अधिक देर तक ठहर सकती हैं । उनमें इतनी विशेषता है कि वे अज्ञानी जीवोंको आत्मकल्याणसे विमुख कर देती हैं और आत्मकल्याणसे विमुख हो कर वे प्राणी फिर सदाके लिये संसारमें परिग्रामण किया करते हैं और नरक निगोदादिके दुःख भोगा करते हैं । इसी लिये वे संपदाएं

भी प्रशंसा के योग्य नहीं कही जा सकती ।

आगे मिथ्यादृष्टियों के मत के दिखलाते हुए कहते हैं ।

विषदुमफलप्रायं वहिःशोभामनोहरम् ।

महामोहलतामूलं मतं मिथ्यादृशां मतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियों का मत केवल बाहर से ही सुंदर जान पड़ता है । परंतु बास्तव में देखा जाय तो वह विषवृक्ष के फल के समान दुःख-दायी है । और महामोहरूपी लताका वह मूल है ।

भावार्थ—आत्मा का कल्याण करनेवाला आत्मा के वैभाविक भावों का त्याग है । इस संसार में क्रोध मान माजा लोभ मद मत्सर काम आदि आत्मा के विकार ही आत्मा को दुःख देनेवाले हैं और इस अज्ञानी आत्मा को नरक निगोद में पटकनेवाले हैं । इसलिये इन विकारों के त्याग से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है । परंतु इन विकारों के त्याग करने का उपदेश किसी भी दर्शन में नहीं है । ये सब विकार आत्मा के शुद्ध गुण के घात करनेवाले हैं । इसलिये इनके प्रगट होनेसे हिंसा होती है । और हिंसा का सर्वथा त्याग करदेना ही वर्म है । यह बात भी किसी दर्शन में नहीं है । अन्य दर्शनों में केवल प्रांसारिक सुखों का वर्णन है इसीलिये वे बाहर से अच्छे जान पड़ते हैं । और संसारी जीव उनमें जल्दी लुभा जाते हैं । अन्य दर्शन केवल इतना ही उपदेश देकर चुप नहीं हो जाते । किंतु यज्ञ यागादिक में जीव वध का उपदेश देकर अथवा मांसभक्षण मध्यसेवन आदिकी साक्षात् आज्ञा देकर जीवों से धोर पाप कराते हैं । जिससे उन जीवों को फिर अनंत काल तक नरक निगोदादिके दुःख भोगने पड़ते हैं । इसीलिये अंथकारने अन्य दर्शनों को विषवृक्ष की उपमा दी है । विषवृक्ष का फल ऊपर से अच्छा जान पड़ता है । परंतु उसके खाने से प्राणनाश अवश्य होता है । उसी प्रकार अन्य दर्शनों के सेवन करने से पहिले सेवन करते समय तो कुछ अच्छा जान पड़ता है । परंतु अंत में उन पापों का फल भोगना ही पड़ता है । इसके सिवाय अंथकार ने

अन्य दर्शनोंको मोहरुपी लताकी जड बतलाया है। जिस प्रकार जड़के रहनेपर वहुतसी लता फैल जाती है उसी प्रकार अन्य दर्शनों के पालन करनेसे मोह बढ़ता ही जाता है। क्योंकि उनमें मोहके त्याग करनेका उपदेश नहीं दिया जाता। और बिना मोहके त्यागके आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये अन्य दर्शनोंके पालन करते हुए आत्माको मोक्ष मिल नहीं सकता। अतएव मोक्ष प्राप्त करनेवाले भव्य जीवोंको जैनधर्मकी ही शरण लेनी चाहिये। धर्म सब जीवोंका कल्याण करनेवाला है और इसीलिये वह मोक्षका सुख देनेवाला है।

आगे अन्य धर्मके लिये और भी कहते हैं।

श्रौतबौद्धशिवाम्नाया मधुमांसासवाश्रयः ।

सुधिया न प्रशस्यन्ते ब्रह्मतत्त्वेषि। संस्थिताः ॥ ४१ ॥

अर्थ—वेदांतमत, बौद्धमत और शैकमत आदि अन्य मत मधु मांस तथा मद्य आदि पदार्थोंके आश्रय हैं। इसलिये उन मतोंको धारण करने वाले बुद्धिमान लोग चाहे आत्म तत्व तक भी पहुंच जाय तो भी वे प्रशंसनीय नहीं कहलाते।

भावार्थ—वेदोंमें शहृतको अमृत माना ही है। बौद्ध मतमें मांसका प्रचार है ही। और शैव मतमें मद्यका प्रचार है ही। भला जिन मतोंमें मांस मधु मद्य आदि पदार्थोंका सेवन करना अच्छा समझा जाता है उनसे आत्माका कल्याण किस प्रकार हो सकता है। प्रथम तो ऐसे मतोंकी क्रियाओंको पालन करता हुआ वर्ती मनुष्य ब्रह्म तत्त्व तक पहुंच नहीं सकता। और कदाचित् कोई पहुंच ऊय अथवा उन मतोंमें भी आत्मके शुद्ध स्वरूपका वर्णन हो तो भी वे मत प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते। इसका भी कारण यह है कि मांसादिकका सेवन करता हुआ कोई भी मनुष्य आत्म तत्त्व तक नहीं पहुंच सकता और इस प्रकार उन मतोंसे कोई भी लाभ नहीं उठा सकता। इन मतोंमें मांसादिकका सेवन करता हुआ वह अनंत पापका उपार्जन करेगा और उस पापके कारण

अनंत काल तक ही उसे नरकार्हिकके घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे । इस प्रकार ये अन्य मत आत्माका दुःख देनेवाले हैं सुख देनेवाले नहीं इसीलिये ये त्याज्य वा अधर्शंसनीय हैं ।

इस प्रकार ग्रथकारने शंका दोषको दिखलाकर और उसका त्याग कराकर निःशक्ति अंगका स्वरूप बतलाया है । आकांक्षा दोष दिखला कर और उसका त्याग कराकर निःकांशित अंगका उपदेश दिया है । विनिंदा दोषको त्याग कराकर निर्विचिकित्सा अंगको पालन करनेकी आज्ञा दी है और अन्यहृष्टप्रशंसा दोषका त्याग करकर अमृदृष्टि अंग बतलाया है । इस प्रकार न्याय अंगोंका स्वरूप बतलाकर बाकीके चार अंगोंका स्वरूप कहते हैं ।

आगे पांचवें अंगको दिखलाते हैं ।

रत्नत्रये तदाधारे धर्मे धर्मस्थितेऽथवा ।

दैवादोषं समायातं पिण्डत्तेयः सुदर्शनः ॥ ४२ ॥

अर्थ-सम्यग्दर्शनमें सम्यज्ञानमें सम्यक्त्वार्थिमें अथवा इन तीनोंको धारण करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंमें, अथवा—उत्तम क्षमादिक किसी अन्य धर्ममें वा उस धर्मको धारण करनेवाले किसी धर्मात्मामें अकस्मात् कोई दोष लग जाय तो सम्यग्दृष्टि पुरुष उसे प्रगट नहीं करते ।

भावार्थ—रत्नत्रय वा उत्तम क्षमादिक अन्य धर्म सब स्वयं पवित्र और निर्दोष हैं—इनमें किसी प्रकारका कोई दोष नहीं है । यदि किसी बालक वा अज्ञानी जनके आश्रयसे इनमें अकस्मात् कोई दोष लग जाय तो भी सम्यग्दृष्टियोंको उसे छिपादेनाहीं चाहिये । इसका भी कारण यह है कि वह दोष अज्ञानतासे हुआ है । वह दोष उस गुणका नहीं है । यदि वह दोष उस गुणका प्रगट किया जायगा तो उस प्रगट करनेवालेको मिथ्यात्म वा झूठका दोष आवेगा अन्योंकि वह गुण तो सर्वथा निर्दोष था । निर्दोष गुणमें दोष लगाना मिथ्यात्म वा झूठ ही है । इसलिये रत्नत्रय वा रत्नत्रयको धारण करनेवाले धर्मात्माओंमें अकस्मात् किसी दोषके लग

जाने पर उसे प्रगट न होने देना उपगृह्ण अंग कहलाता है। और यह सम्यदर्शनका पांचवां अंग है।

आगे ऐसे दोषोंको प्रगट करनेवालेका उदाहरण देकर दिखलाते हैं।

सावित्रीव स्वपुत्रेषु योपराधं न वाधते ।

दैवात्मादात् संभूतं साधुना॑ सोधमः पुमान् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सावित्रीने अपने पुत्रोंका अपराध छिपाया था उसी प्रकार जो पुरुष अकस्मात् अश्वा प्रमादसे उत्पन्न हुए साधुओंके दोषोंको नहीं छिपाता उसे नीच पुरुषसमझना चाहिये।

भावार्थ—ऊपर कह चुके हैं कि ज्ञोष अज्ञान वा प्रमादसे होते हैं और अज्ञान वा प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रगट करनेसे केवल प्रगट करनेवाले की मूर्खता प्रगट होती है। क्योंकि वे दोष वास्तविक नहीं होते। इसलिये ऐसे दोषोंको कभी प्रगट नहीं करना चाहिये।

आगे इसी बातको और उदाहरण देकर समझाते हैं।

बालिशस्यापराधेन मलिनं स्यान्न शासनम् ।

नहि मीने मृते याति पयोषि पूतिपूरतम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक मछलीके मंसेसे समुद्र गंदा नहीं होता उसी प्रकार किसी बालक वा अज्ञानी पुरुषवें अपराधसे शासन कभी मलिन नहीं हो सकता।

भावार्थ—मगवान अरहंतदेवका वहा हुआ जिनशासन स्वयं शुद्ध है वह तो किसी भी प्रकार मलिन वा अपवित्र नहीं हो सकता। इसलिये किसी बालक वा अज्ञानी जनके अश्रयसे होने वाली निंदाको कभी प्रगट नहीं करना चाहिये। यह सम्यदर्शनका पांचवा उपगृहन नामका अंग है।

आगे स्थितीकरण अंगको दिखलाते हैं।

परीषहाद् ब्रताद्वीतमप्राप्तशुलसम्पदम् ।

धर्माद् भृस्यन्मर्ति साधुं पुनर्भूतत्र गेष्येत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो साधु परीषह अथवा व्रतोंसे भयभीत होगया है और जिसने शास्त्ररूपी संपति कभी प्राप्त नहीं की है ऐसे धर्मसे ब्रह्म होते हुए साधु-को फिर उसी व्रतमें स्थापन कराना स्थितिकरण अंग कहलाता है ।

भावार्थ—जो मुनि वा गृहस्थ किसी भी कारणसे सम्यदर्शन वा सम्यक् चारित्रसे च्युत होता हो तो उसे समझा बुझाकर वा जिस तरह बने उसी तरह फिर उसी सम्यदर्शन वा सम्यक् चारित्रमें स्थिर करना चाहिये । यह सम्यदर्शनका छट्ठा अंग है ।

जो स्थितीकरण नहीं करता उसके सम्यदर्शन नहीं हो सकता ऐसा आगे दिखलाते हैं ।

भृस्यन्तं तपसो दैवात् योऽन पातीह संयतम् ।

सदर्शनबहिर्भूतः शासनस्थितिलोपनात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि कोई मुनि किसी दैवयोगसे तपश्चरण से ब्रह्म होता हो और फिर भी उसे अन्य कोई वर्मत्वा न रोके—उसी तपश्चरणमें स्थिर न करे तो उस स्थिर न करनेवाले को भी सम्यदर्शनसे अलग ही समझना चाहिये । इसका भी कारण यह है कि उसने उसे स्थिर रखकर शासनको मिथ्र नहीं रखा और इस प्रकार शासनकी स्थिरताका लोप कर दिया ।

भावार्थ—तपश्चरणसे भृष्ट होनेवालेको अवश्य स्थिर करना चाहिये । ब्रह्म होनेवालेको स्थिर न करना मोक्षमार्गकी मर्यादाका लोप करना है । इसीलिये वह सम्यदर्शनसे ब्रह्म समझा जाता है । अतएव ब्रह्म होनेवालेको रोकना और उसे फिर सम्यदर्शन वा सम्यक् चारित्रमें स्थिर करना सम्यदर्शनका स्थितिकरण नामका छट्ठा अंग कहलाता है ।

आगे रत्नत्रयको स्थिर करनेका उपाय बतलाते हैं ।

शिष्यैः संदेहनिर्वाहैरपि संकार्द्येन्मनम् ।

बहुमध्ये भवेन्नूनं रत्नत्रयग्रोऽपरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अनेक शिष्योंके सब संदेह दूर कर अपने मतकी वृद्धि

अवश्य करनी चाहिये क्योंकि अनेकोंमें कोई न कोई रत्नत्रयको धारण कर लेता ही है ।

भावार्थ—अनेक शिष्योंको उर्फाश देकर और उनके सब संदेह दूर कर इस पवित्र जैन शासनमें लगाना चाहिये । और इस प्रकार इस शासनकी वृद्धि करनी चाहिये । क्योंकि यदि अनेक शिष्योंको समझाया जावेगा और उनके सब संदेह दूर कर निश्चय कराया जावेगा तो उनमें से थोड़े बहुत रत्नत्रयको धारण करनेवाले अवश्य ही निकल आवेंगे । यह भी मोक्षमार्गकी वृद्धि करनेका एक कारण है । इसलिये शिष्योंका संदेह अवश्य इसी दूर करते रहना चाहिये । अथवा 'शिष्यसंदोहनिवाहैः' ऐसा भी पाठ है । और यह पाठ बहुत अच्छा है । इसका अर्थ यह है कि अनेक शिष्यसमूहोंका निवाह करके भी अपने मतकी वृद्धि करनी चाहिये । क्योंकि अनेक शिष्योंमें कोई न कोई रत्नत्रयको धारण कर ही लेगा ।

भावार्थ—इस पवित्र जैनधर्ममें 'पवित्र अहिंसामय धर्मका उपदेश देकर अनेक नवीन शिष्य उत्पन्न करना चाहिये । उन शिष्योंका निर्वाह करना चाहिये—पालन पोषण करना चाहिये । और इस प्रकार शिष्योंका समुदाय बढ़ाकर मतकी वृद्धि करनी चाहिये । क्योंकि यदि बहुतसे शिष्य होंगे तो उनमेंसे कोई न कोई रत्नत्रयको धारण कर आत्म कल्याण अवश्य कर लेगा । इस प्रकार जीवोंका आत्म कल्याण करनेका और उन्हें अनुपम सुख पहुंचानेका यह सहज।उपाय है ।

आगे इसी बातको पुष्ट करते हैं ।

यतः शासनसाध्योथौ नानार्थिष्यसमाश्रयः ।

ततः संबोध्य यो यत्र साधुस्तं तत्र रोपयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—पहले यह जो बता चुके हैं कि शिष्योंका संदेह दूर कर शासनकी वृद्धि करनी चाहिये इसका ऐसा कारण यह है कि शासनसे वा जैन धर्मसे जो कार्य सिद्ध करना चाहते हैं वह अनेक शिष्योंके आश्र-

यसे ही हो सकता है। इस लिये उनको समझा बुझा कर जो निपुण है उसको उसीमें स्थापन कर देना चाहिये।

भावार्थ—जिनशासन वा जैन धर्मका मुख्य कार्य आत्मकल्याण करना है। संसारी समस्त जीव कर्मोंकी परवशताके कारण अत्यंत दुःखी हो रहे हैं। वे मोक्ष मार्गमें लगकर कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर अनंत सुखको प्राप्त करले यही जिनशास्त्रका ध्येय है। यह ध्येय जितने अंशमें अधिक सफल होता जायगा उतनी ही जैन शासनकी वृद्धि समझनी चाहिये। जैन शासन कहता है “शिवमरुपु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूत-गणः। दोषाः पर्यान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः” अर्थात् “समस्त संसारका कल्याण हो, समस्त प्राणी दूसरोंके कल्याण करनेमें तत्पर हो जाय, दोष सब नष्ट हो जायी और सब जगहके लोग सब सुखी हो जाय”। जैन शासनका यह ध्येय तभी सफल हो सकता है जब कि ऐसा करनेके लिये—इस उपदेशपर चलनेके लिये सब मनुष्य तैयार हो जाय। यदि इस संसारमें सभी प्राणी एक दूसरेको सुख पहुंचनेमें तत्पर हो जाय तो सहजमें ही सबका भला हो सकता है। इस लिये ऐसी भावना रखनेवाले शिष्योंकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये। तथा ऐसी भावना रखनेवाले शिष्य यदि अपने सम्यज्ञदर्शन वा सम्यक् चारित्र गुणसे डिगते हों तो उन्हें उसीमें स्थापन करना चाहिये। मोक्ष मार्गकी वृद्धिका यह सबसे सहज उपाय है।

आगे स्थितिकरण न करनेमें हानि बतलाते हैं।

बालः शिष्योऽन्यथा नृन् तथा दूरतरोपयेत् ।

ततस्तस्य भवोऽनन्तः समयोऽपि निहीयते ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि स्थितिकरण अंगका पालन न किया जायगा तो बाल-क अथवा अज्ञानी शिष्य अवश्य ही इस मोक्षमार्गसे बहुत दूर हट जायगे और फिर उन शिष्योंको अनंत अवतक इस घोर संसारमें परिप्रिमण करना पड़ेगा नथा इस प्रकार मोक्षमार्गमें भी हानि पहुंचेगी।

भावार्थ— मोक्षमार्ग वा रत्नत्रयसे चयुत होनेवालोंको फिर उसी मार्गमें वा उसी धर्ममें अवश्य स्थापन करना चाहिये। मान लीजिये कि कोई मनुष्य रत्नत्रयको छोड़ रहा है औं। उसे उसीमें स्थापन करनेका उपाय नहीं किया जाता तो इसका फल यह होगा कि उस अज्ञानीको रत्नत्रयके छोड़ देनेसे इस संसारमें अनंत कालतक परिभ्रमण करना पड़ेगा और अनंत काल तक नरक निगोदार्घिके दुःख भोगने पड़ेंगे। इस प्रकार पहिली हानि तो यह होगी तथा कृपरी हानि यह होगी कि मोक्षमार्गमें चलनेवाले जीवोंमें से कम हो जाएंगे। यदि उसको फिर उस रत्नत्रयमें स्थापन कर दिया जाता तो वह अनंत कालके दुःखोंसे बचता और मोक्षमार्गमें लगकर शीघ्र ही आत्मकल्याण करलेता तथा मोक्षमार्गका उपदेश देकर अन्य कितने ही जीवोंको मोक्षमार्गमें लगा लेता। इसलिये रत्नत्रयसे डिगनेवालोंका अवश्य ही स्थिरोकरण करना चाहिये इससे मोक्षमार्गकी खूब ही वृद्धि होती है।

आगे प्रभावना अंगको कहते हैं।

निरवैर्महादानैस्तपोभिर्भुवनोत्तमैः ।

विद्याभिर्विश्ववन्द्याभिर्विदधीत प्रभावनाम् ॥ ५० ॥

अर्थ—निर्दोष महा दान देकर तथा संसारमें उत्तम तपश्चरण कर और संसार भरके द्वारा पूज्य ऐसी विद्याओंके द्वारा जिनशासनकी प्रभावना अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ—जिन जिन कार्योंसे जैनर्धनकी प्रशंसा हो और जिनशासन की वृद्धि हो ऐसे काम कर प्रभावना अंग अवश्य बढ़ाना चाहिये। वह जिनशासनकी प्रशंसा प्रथम तो दान देनेसे होती है। दान निर्दोष होना चाहिये। यदि वह दान मिथ्यात्वको बढ़ानेवाला हो, यदि उस दानका फल पवित्र मोक्ष मार्गका बात करनेवाला हो, यदि उस दानका फल जैन सिद्धांतके विरुद्ध हो तो वह दान नहीं किंतु कुदान है। निर्दोष दान वही है जिससे मोक्ष मार्गमें सहायता मिले और जैन शासनकी

वृद्धि हो । ऐसा ही दान देकर जैन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये । इसी प्रकार कठिन कठिन तपश्चरण करके भी प्रभावना करनी चाहिये । वह तप सम्यज्ञान पूर्वक होना चाहिये तथा रत्नत्रयधर्म को बढ़ानेवाला होना चाहिये । जो तप अज्ञानता पूर्वक किया जाता है जिसमें विषय कथाओंका त्याग नहीं होता वह तप मिथ्या तप है । ऐसे मिथ्या तपसे मोक्षमार्ग की वृद्धि नहीं होती किंतु संसारकी वृद्धि होती है । इसलिये । सम्यज्ञान पूर्वक तपश्चरण धारण कर जिन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये । इसीतरह विद्याका प्रकाश करके भी प्रभावना करनी चाहिये । परंतु वे विद्याएं सम्यक् होनी चाहेये । यदि वे विद्याएं कुविद्याएं हों तो उनसे आत्म कल्याण नहीं होता, उनसे उलटा आत्मघात होता है । तथा ऐसी कुविद्याएं सबको अच्छी भी नहीं लगती सबके द्वारा पूज्य वे ही विद्याएं गिनी जाती हैं जो अपने आत्माका कल्याण करती हुई संसार भरके जीवोंका कल्याण करें ऐसी ही विद्याएं मोक्षमार्ग की सहायक और जिनशासनकी वृद्धि करनेवाली होती हैं इसलिये ऐसी जगत्पूज्य विद्याओंसे ही जैन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये । इस प्रकार निर्देश दान, उत्तम तपश्चरण और जगत्पूज्य विद्याओंके द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना प्रत्येक मनुष्यको करनी चाहिये यह मनुष्यसात्रका एक कर्तव्य है । इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यह कर्तव्य पालन करना चाहिये ।

आगे इसी विषयको और पीलिखते हैं ।

प्रासादप्रतिमाधर्महामहोत्सवैः ।

दर्शनद्योतनं साधुर्विदधातु महामनाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उदार गृहस्थोंको जिन्द्र भगवान्‌के भवन जिनप्रतिमा और महामह महोत्सव आदिके द्वारा जैनशासनका उघोत करना चाहिये ।

भावार्थ—जिनभवन बनवाने और उनमें जिन प्रतिमा विराजमान करनेसे परंपराके लिये धर्म की वृद्धि होती है । जबतक वह धर्मायतन बना रहे गा नव तक बराबर भव्य जीव उसके द्वारा धर्मसेवन करते रहेंगे ।

इसलिये जिन भवन बनवाकर तथा जिन धतिमा विराजमान कर प्रभावना करनी चाहिये । इसके सिवाय महामह यज्ञ, पूजा, प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि के द्वारा भी प्रभावना करनी चाहिये । जिस महा उत्सवको मुकटबद्ध राजा करते हैं उसे महामह यज्ञ कहते हैं । इसको देखकर भी अन्यधर्मी जन आश्र्य करते हुए जैनधर्मीं श्रद्धान करने लगे जाते हैं । इस प्रकार ये सब कार्य धर्मकी वृद्धि करने वाले हैं इसलिये सम्यग्दर्शनके अंग हैं और प्रभावना अंगके नामसे कहे जाते हैं ।

आगे कहते हैं कि रत्नत्रयकी निंदा करनेवाले—उससे ईर्षा वा द्वेष रखनेवालेसे रत्नत्रय भी ईर्षा रखता है ।

वोधे तपसि सन्माने यतीनां यस्तस्यति ।

रत्नत्रयमहासम्पन्नून् तस्याप्यस्यति ॥ ५२ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान तपश्चरण और मुनियोंके आदर सत्कार करनेमें जो ईर्षा करता है यथायोग्य रीतिसे आदर सत्कार नहीं करता उससे रत्नत्रयरूपी महासंपदा भी अवश्य ही ईर्षा करती है ।

भावार्थ—जो रत्नत्रयसे ईर्षा करता है—उसको धारण नहीं करता उसका आदर सत्कार नहीं करता उसके पास न तो रत्नत्रय रूपी संपदा ही आती है और न रत्नत्रयसे प्राप्त होने वाले उत्तमोत्तम फल प्राप्त होते हैं वह जीव फिर सदा नरक निगोदः आदिके अनेक दुःख भोगा करता है इसीलिये रत्नत्रयको धारण करने वालोंमें कभी ईर्षा द्वेष नहीं करना चाहिये । सदा उन्हें पूज्य दृष्टिसे देखना चाहिये और सदा उनका आदर सत्कार करते रहना चाहिये ।

आगे वात्सल्य अंगको कहते हैं ।

सद्गावो भावना अद्वा सन्मानं प्रुविधेयता ।

सर्वमसु यथास्थित्या तद्वात्सल्यं सतां मतम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—भगवान अरहंत देवके कहे हुए हस जैन धर्मके धारकोंमें अपनी शक्तिके अनुसार भावना रखना उसकी वृद्धिके परिणाम रखना, अद्वा र-

खना, सब तरह से उसका आदर सत्कार करना और उसमें कही हुई कि
याओंका अनुष्ठान करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

स्वाध्याये संयमे धर्मे सूत्रौ वा धर्मवान्धवे ।

प्रतिपत्तिस्त्रिधाप्राहु विनयं विनयान्विताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—विनयको धारण करनेवाले आचार्य स्वाध्याय, संयम, धर्म, मुनि, वा धर्मात्मा भाइयोंके मन वचन कायसे आदर सत्कार करनेको विनय कहते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय करना, शास्त्रोंको विनय पूर्वक विराजमान करना उनको विनय पूर्वक उच्चासनपर विराजमान कर पढ़ना तथा स्वाध्याय करनेवालोंका आदर सत्कार करना स्वाध्यायकी विनय कहलाती है। संयम धारण करना, अथवा संयर्मा मुनियोंका आदर सत्कार करना संयम की विनय है। धर्मको धारण करना और मुनि वा धर्मात्मा भाइयोंका आदर सत्कार करना धर्म मुनि वा धर्मात्माओंकी विनय कहलाती है। यह सब तरहकी विनय मन वचन काय तीनोंसे होनी चाहिये। इस प्रकारकी विनय करनेको ही वात्सल्य अंग कहते हैं। जिनके आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण विराजमान रहता है उन्हींसे इस वात्सल्य अंगका पालन होता है अन्य किसीसे नहीं।

आगे इसी वात्सल्य अंगके और भी प्रकार बतलाते हैं।

व्याध्यादिना निरुद्धस्य निरवधो विधिर्भान् ।

विधेयो धर्मताधारैरसैषजायिः स्ववस्तुभि ॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि कोई मुनिराज वा अन्य धर्मात्मा जन किसी रोगसे पीड़ित हों अथवा उनके पास पीड़ी कमंडलु धर्मशास्त्र आदि धर्मके उपकरण न हों तो धर्मात्मा ग्रहस्थोंको औषधि पीछी कमंडलु शास्त्र आदि धर्मको बढ़ानेवाले अपने पदार्थ निर्देष और उत्कृष्टविधिपूर्वक देकर वात्सल्य अंगका पालन करना चाहिये।

भावार्थ—जिसके हृदयमें धर्मप्रेम होता है वही धर्मात्माओंसे प्रेम

कर सकता है। जिसके हृदयमें धर्मप्रेम नहीं है वह कभी भी धर्मात्माओंसे प्रेम नहीं कर सकता। धर्मात्माओंसे प्रेमः करना ही वात्सल्य गुण है। धर्मप्रेम होनेसे ही सम्यग्वृष्टि पुरुष आदारा औषध आदि दान दे सकता है और वैयावृत्य कर मुनियों के अनेक ब्रुख दूर कर सकता है। इसलिये प्रत्येक धर्मात्माको वैयावृत्य कर वात्सल्य अंगका पालन अवश्य करते रहना चाहिये।

आगे वैयावृत्य करनेके लिये और भी उपदेश देते हैं ।

दानमानविधानैन यतः श्रुतमहृत्तमे ।

स्त्रौ श्रुतधरे वृद्धं वैयावृत्यं किञ्चीयताम् ॥ ५६ ॥

अर्थ— अनेक प्रकारके तपश्चरणको धारण करनेवाले आचार्य, पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले उपाध्याय और परम पूज्य वृद्ध मुनियोंको विषिपूर्वक दान देकर तथा उनका आठ्र सत्कार कर वैयावृत्य करना चाहिये।

भावार्थ— आचार्य उपाध्याय तपस्वी शैक्षण्य ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञ ऐसे दश प्रकारके मुनि होते हैं। जिनसे अन्य सब मुनि दीक्षा लें उन्हें आचार्य कहते हैं। वो सबको पढ़ावें उन्हें उपाध्याय कहते हैं। अनेक उपवास आदि करनेवालोंको तपस्वी कहते हैं। शिक्षा ग्रहण करने योग्य मुनियोंको शैक्ष्य कहते हैं। रोगी मुनियोंको ग्लान कहते हैं। वृद्ध मुनियोंके समुदायको पण कहते हैं। आचार्योंकी शिष्य परंपराको कुल कहते हैं। क्रषि, यति, साधु, और तपस्वी इन चारो प्रकार के मुनियोंके समुदायको संघ कहते हैं। बहुता दिनके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं। और जो विद्रान् हो, वक्ता हो, महाकुलीन हो तथा इसीलिये जो सबको पसंद हो उसको मनोज्ञ कहते हैं। इन दश प्रकारके मुनियोंकी टहल चाकरी सेवा शुश्रूषा आदि करना वैयावृत्य कहलाता है। सम्यग्वृष्टिको यह वैयावृत्य अवश्य करना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो वैयावृत्य करनेसे ही वात्सल्य अंग प्राप्त होता है।

आगे वैयाकृत्यकी प्रशंसा करते हैं ।

सर्वस्य शासनस्यापि वित्तर्थं बपुष्यथवा ।

वैयाकृत्य विधत्ते यः स धर्मे शिवसम्बद्धम् ॥ ५७ ॥

अर्थ — जो पुरुष अपने धर्मसे अथवा अपने शरीरसे इस समस्त जैन शासनका वैयाकृत्य करता है वह मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—मुनि अर्जिका रावण श्रविका आदि सब जैन धर्म के अंग हैं । इन सबको वैयाकृत्य करनी चाहिये । वैयाकृत्य करना अंतरंग तप है । जिसके हृदयमें देव शास्त्र गुरुकी गाढ़ श्रद्धा होती है—गाढ़ धर्म प्रेम होता है उसीसे सेवा शुश्रूषा चन सकती है । इसलिये ऐसे सम्यग्वृष्टि पुरुषको मोक्ष लक्ष्मी अवश्य मिलनी चाहिये इसमें किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके आठ और्णोंका निरूपण हो चुका ।

अब आगे सम्यग्दर्शनके भेद दिखलाते हैं ।

प्रतिबंधशमात्पूर्वं द्वितीयं तत्य नाशनात् ।

मिश्रान्मिश्रं तृतीयं स्यादर्शनं त्रिविधं मतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ — अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और मिश्रात्व, सम्यक् मिश्रात्व और सम्यक् प्रकृति मिश्रात्व ये प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शनकी घातक हैं । इन सातों प्रकृतियों के उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन होता है । तथा इन सातों प्रकृतियों कि अत्यंत नाश होजानेपर क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । इन सातों प्रकृतियोंमें अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, मिश्रात्व और सम्यक् मिश्रात्व ये छह प्रकृतियाँ सर्व घाती हैं और सम्यक् प्रकृति मिश्रात्व देश घाती है । इन ऊपर लिखी सर्व घाती छह प्रकृतियोंका उद्याभावी क्षम होनेपर तथा उन्हीं सर्व घाती सत्तावस्थित प्रकृतियोंका उपशम होनेपर तथा देश घाती सम्यक् प्रकृति मिश्रात्वका उद्य छोनेपर क्षायोपशमित अथवा मिश्र सम्यग्दर्शन होता है । इस प्रकार औपशमिक क्षायिक और क्षायोपक्षमिक के भेदसे सम्यग्दर्शनके तीन भेद होते हैं ।

आगे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति के कारण बतलाते हैं ।

भवेदासन्नभव्यस्य द्रव्यादिसमुदायतः ।

स्वभावादुपदेशाद्वा तत्त्वश्रद्धासमादिमम् । ५९ ॥

अर्थ— द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि कारण सामग्रीके मिल जानेपर आसन्न भव्य जीवके जो स्वभावसे अथवा उपदेशसे यथार्थ तत्त्वोंका अद्वान होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भावार्थ— सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेमें मिथ्यात्वादिक सात प्रकृतियोंका उपशम तो अवश्य होना ही चाहिये । इन प्रकृतियोंके उपशम होनेको अतरंग कारण कहते हैं । इस अतरंग कारण के होते हुए जहाँ उपदेश आदि वाह्य काण्डा मिल जाता है और उससे जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह अधिगमज औपशमिक सम्यग्दर्शन कहलाता है । और जहाँ वाह्य कारण सामग्री न मिले केवल अतरंग कारण के होने-से ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं । इस प्रकार निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका सम्यग्दर्शन कहलाता है । यह सम्यग्दर्शन द्रव्य क्षेत्र काल भाव लड्बि आदि कारण सामग्रीके मिलनेमें ही होता है; और आसन्न भव्य वा निकट भव्य को ही होता है, अन्य किसीको नहीं ।

आगे अनादि मिथ्याहृष्टीके सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रगट होता है सो बतलाते हैं ।

नवीनस्येव पात्रस्य दुर्वासितमहामतेः ।

श्रद्धानं स्यात्पदार्थानां भवसमुत्यादिहेतुभिः ॥ ६० ॥

अर्थ— बड़ी कठिनतासे जिसकी दृढ़ि निर्मल हुई है ऐसे नवीन पात्रक जातिस्मरण आदि कारणोंके द्वाप्र यथार्थ पदार्थोंका अद्वान होता है ।

भावार्थ— जिस प्रकार नवीन पात्रमें सुनिधित पदार्थोंकी भावना बड़ी कठिनतासे दी जाती है उसी प्रकार अनादि मिथ्याहृष्टीका आत्मा

बड़ी कठिनतासे निर्मल होता है। आत्माके निर्मल होनेपर यथासंभव जाति-स्परण, देवदर्शन, जिन महिमा दर्शक, देवोंकी क्रद्धियोंका दर्शन, और दुःखोंका अनुभव आदि बाह्य कारणोंके मिलनेपर तथा सम्यग्दर्शनकी घातक प्रकृतियोंके उपयम होनेपर यथार्थ पदार्थोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होता है। यह औपशमिक सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आगे सम्यग्दर्शनके भेद दिखलाते हैं।

द्वेषा त्रेधाथवा प्राहुर्दशभा वा सुदर्शनम् ।

तत्त्वश्रद्धेव सर्वत्र चहुर्भेदः प्रदर्शिता ॥ ६१ ॥

अर्थः - इस सम्यग्दर्शनके का भेद हैं, तीन भेद हैं, अथवा दश भेद हैं। सम्यग्दर्शनके इन सब भेदोंमें पदार्थोंकी श्रद्धा ही अनेक प्रकारसे दिखलाई गई है।

भावार्थ निसर्गज और अधिगमज ये सम्यग्दर्शनके दो भेद पहिले दिखला चुके हैं। तथा औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं। ये भी पहिले लिखे जा चुके हैं। इनके सिवाय आज्ञा सम्यग्दर्शन, मार्ग सम्यग्दर्शन, उपदेश सम्यग्दर्शन, सूत्र सम्यग्दर्शन, वीज सम्यग्दर्शन, संक्षेपसम्यग्दर्शन, विस्तार सम्यग्दर्शन, अर्थ सम्यग्दर्शन अवगाढ सम्यग्दर्शन और परमावगाढ सम्यग्दर्शन ऐसे सम्यग्दर्शनके दश भेद कहे जाते हैं। भगवान वीतराग अरहत देवकी आज्ञाके अनुसार यथार्थ तत्त्वोंके श्रद्धान करनेवालेके आज्ञा सम्यक्त्व होता है। पुराणोंमें कहे हुए उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्रोंको सुनकर जो श्रद्धान किया जाता है उस मार्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगमका उपदेश सुनकर जो श्रद्धान किया जाता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है। मुनि वा गृहस्थोंके आचरणोंको सुनित करनेवाले आचर सूत्रोंको सुनकर श्रद्धान करनेको सूत्रसम्यग्दर्शन कहते हैं। सार्थक अर्थोंको धारण करनेवाले वीजाक्षरोंको सुनकर तत्त्वश्रद्धान हो जानेको बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थोंके स्वरूपको संक्षेपसे ही

४०८

सुनकर श्रद्धान करनेको संक्षेप सम्यग्दर्शन कहते हैं। बारहों अंगोंकी सुनकर पदार्थोंके श्रद्धान करनेको विस्तार सम्यग्दर्शन कहते हैं। शास्त्रोंके शब्दोंके बिना ही केवल अर्थ समझकर श्रद्धान करनेको अर्थ सम्यग्दर्शन कहते हैं। बारह अंग औं अंगबाल्य श्रुतज्ञानको पढ़कर जो श्रद्धान होता है वह अवगाढ सम्यग्दर्शन है। और केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके देखते हुये जो श्रद्धान होता है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके दश भेद हैं। इन सबमें तत्त्व श्रद्धान अवश्य है परंतु उस श्रद्धानके प्राट होनेमें प्रकार अलग अलग हैं। उन प्रकारोंके भिन्न भिन्न होनेसे ही सम्यग्दर्शनके भेद हो गये हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो स्वात्मानुस्तिरूप सम्यग्दर्शन एक ही है। उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

आगे सम्यग्दर्शनके गुण—दोषोंको बतलाते हैं।

निर्वेदादिमनोभावैर्दर्शनं तत्प्राणास्यते ।

तथानायतनैदोषः संदेहाद्यैर्विनश्यति ॥ ६२ ॥

अर्थः वह सम्यग्दर्शन निर्वेद आदि मनके भावोंसे प्रशंसनीय गिना जाता है और शंका आदि दोषोंसे तथा अनायतन आदि दोषोंसे नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रशम संवेग अनुकूल और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शनके अविनाभावी गुण गिने जाते हैं। परिणामोंका विषयकषायोंमें शिथिल होना प्रशम है। अथवा अपराधीकेलिये भी आत्मामें विकार न होने को प्रशम कहते हैं। धर्ममें उत्साह रखना अथवा परमेष्ठियोंमें प्रेम करना संवेग है। अभिलाषाओंके त्याग करनेको निर्वेद कहते हैं सब जीवोंमें मैंको भाव रखना—अनुग्रह रखना किसीसे वैर भाव न करना अनुकूल है। जीवादिक तत्त्वोंमें, धर्ममें, धर्म के कारणोंमें और धर्मके फलमें निश्चल बुद्धि रखनेको आस्तिक्य कहते हैं। ये सम्यग्दर्शनके अविनाभावी गुण हैं। सम्यग्दर्शनके साथ अवश्य

रहते हैं और इन्हींसे सम्यदर्शन प्रशंसनीय वा उत्तम गिना जाता है। इनके सिवाय निःशक्ति आदि आठ अंग, तीन मूढ़ताओंका त्याग, छह अनायतनोंका त्याग और आठोंप्रदोक्ष का त्याग—ये पच्चीस भी सम्यदर्शन के गुण कहलाते हैं। शंका आदि आठ दोष तीन मूढ़ता छह अनायतन आठ मद् ये पच्चीस सम्यदर्शनके दोष कहलाते हैं। इनमेंसे सम्यदर्शनके आठों अंगोंका स्वरूप इहले कह चुके हैं। उनका न होना ही शंका आदि आठ दोष हैं, वे भूसिंक्षेपसे पहिले लिखे गये हैं। देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और गुरुमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएं कहलाती हैं। किसी इच्छासे रामी द्वेषी देवोंकी उपासना करना देवमूढ़ता है। धर्म समझकर नदी समुद्रमें नहाना, ब्राह्म पथरके ढेर लगाकर पूजना और धर्म समझकर पर्वत से गिर मरना वा अग्निमें जल मरना—लोक मूढ़ता है। पाखंडी साधुओंका आदर सत्कार करना गुरुमूढ़ता है। कुदेव कुशास्त्र और कुगुरु तथा इनके मानने वालोंकी प्रशंसा करना छह अनायतन हैं। ज्ञान, ब्रह्मपन, कुल, जाति, ब्रह्म, ऐश्वर्य, तप और शरणका अभिमान करना—आठ मद हैं। इस प्रकार सम्यदर्शनके ये पच्चीस दोष हैं। इन दोषोंका त्याग कर ऊपर लिखे गुणोंको धारण करना उी सम्यदृष्टीका कर्तव्य है। क्योंकि गुणोंसे सम्यदर्शन निर्मिल होता है और दोषोंसे मलिन होता है अथवा नष्ट भी हो जाता है।

आगे शल्योंके त्याग करनेके लिये कहते हैं।

मायामिथ्यानिदानानिःशल्यान्येतानि दर्शने ।

मूलानिर्मूलतान्येव परावन्द वितन्वते ॥ ६३ ॥

अर्थ—माया मिथ्या निदान ये तीन शल्य कहलाती हैं। इनका जड़से नाश कर देनेसे ही आत्मावृत्ति परम आनंदकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—छुले कपट करनेलो माया कहते हैं। विपरीत श्रद्धान करनेको मिथ्यात्व कहते हैं और अग्रामी भोगोंकी आकृक्षा करने को निदान कहते हैं। ये तीनों ही बहुत सम्यदर्शन को नष्ट करने वाली

हैं। इनके स्थाग किये विना आत्माका बहु सम्पदवस्त्रपी प्रकाश निर्मल नहीं हो सकता और यिता उसके निर्मल हुए आत्माको उसका आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सम्यग्दर्शन से उत्पन्न हुए परमानंदको प्राप्त करनेके लिये तीनों शङ्खोंशा स्थाग अवश्य करते चाहिये।

अगे सम्यग्दर्शनकी मुख्यता दिलाई है।

दशा हीनः सद्य याति न यथा स्थानमीप्सितम् ।

निर्देशनः पुमान् याति न तथा पदमीप्सितम् ॥ ६४ ॥

अर्थः— जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य अपने इष्ट स्थानको नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य भी अपने इष्ट पदको नहीं पा सकता।)

भावार्थ— जिस प्रकार इष्ट स्थानका पहुँचनेके लिये नेत्र कारण हैं उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सम्यग्दर्शन अवश्य कारण है। मोक्ष मार्गको दिखलानेवाला सम्यग्दर्शन ही है। इसके बिना मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

अगे और भी सम्यग्दर्शनकी मुख्यता दिखलाते हैं।

ब्रतस्थोपि वृथा बालो मनुष्यदेहकर्शनः ।

निर्ब्रतोपि वर्ण भवयो वृधसंविद्वद्वर्शनः ॥ ६५ ॥

अर्थ— जो भवय जीव सम्यग्ज्ञानसे कृदीप्यग्नान होनेवाले सम्यग्दर्शनको वारण करता है परंतु ब्रत पालन नहीं करता वह उस व्यर्थही ब्रत पालन करनेवाले अज्ञानीसे अच्छा है जो सम्यग्दर्शनमें भी संदेह रखता है।

भावार्थ— बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र सब व्यर्थ है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—दोनोंकी जड़ है। ज्ञान चारित्र, सम्यग्दर्शनके होनेसे ही सम्यक् गिने जाते हैं। बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र दोनों ही मिथ्या हैं और इसी लिये संसारके कारण हैं। सम्यग्दर्शन अकेला ही सुमार्गको दिखला देता है। परंतु बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान चारित्र दोनों

भी चारों गतियोंमें दकेल देते हैं। इसलिये सबसे पहिले सम्यग्दर्शनको धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए ।

आगे सम्यग्दर्शनके दोषों की त्याग करने के लिये कहते हैं ।

सदोषं दर्शनं नैव भवभावं व्यपोहते ।

ततो दोषं त्रिधा दूरे यतः परिहापयेत् । ६६ ।

अर्थ—पहले कहे हुए दोषोंसे मलिन हुआ सम्यग्दर्शन सांसारिक दुःखोंको कभी दूर नहीं कर सकता इसलिये उन दोषों को प्रयत्नपूर्वक मन बचन काय तीनोंसे दूरसे ही छोड़देना चाहिये ।

भावार्थ—दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शनसे ही संसारके दुख दूर होते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टीको उन दोषोंसे बचने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न करना चाहिये, और भरसक कोई भी दोष नहीं लाने देना चाहिये ।

आगे सम्यग्दर्शनकी महिमा जिखलाते हैं ।

निर्दोषं दर्शनं यस्य निरक्षतस्य दूरतः ।

पूर्वबद्धायुषां देवाद्यदि स्यात्प्रथमस्तदा । ६७ ।

अर्थ—जिसके निर्दोष सम्यग्दर्शन होता है उसकी नरक गति सर्वथा छूट जाती है। कदाचित् जिनके सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पहिले नरक आयुका बंध हो गया हो तो उन्हें भी पहले ही नरकमें जाना पड़ेगा, आगे नहीं ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी नरकायुका बंध कभी नहीं करता। जिस किसी सम्यग्दृष्टी के सम्यग्दर्शन झगड़ होने के पहले नरकायुका बंध होगया हो तो वाहे सातवें ही नरबलका बंध क्यों न किया हो, वह पहले ही नरकमें जायगा। इसका कारण यह है कि आयुर्बंध छूटता नहीं। जिसने जिस आयुका बंध करलिया है उसे उसी आयुमें, उसी गतिमें अवश्य जाना पड़ेगा। परंतु स्थितिबंध कम ही जाता है। नरकायुका बंध करते हुए जिसने सातवें नरककी स्थिति बांझी थी उसकी स्थिति घटकर पहले नरककी हो जाती है। यह भी सम्यग्दर्शनका ही प्रभाव है। इसलिये यदि

नरक निगोदादि के दुखों से छूटना है तो अब पहिले सम्यग्दर्शन धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

(सर्वस्त्रीहीनदेवत्वं पशुत्वं सर्वतस्तथा ।

दुःस्थत्वं व्याधिनिद्यत्वं प्राप्यर्त्तं न सुदर्शनेः ॥ ६८ ॥

अर्थ——सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव न तो किसी भी स्त्री पर्यायमें जाता है न भवनवासी व्यंतर ज्योतिषिक इन हीन देवोंमें उत्पन्न होता है, न पशु पर्याय पाता है, न दस्ति होता है, न रोगी होता है और न और किसी तरह निद्य अवस्थाकी धारण करता है । अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन होनेके बाद फिर किसी प्रकारका दुःख प्राप्त नहीं हो सकता ।)

(नगामरमहश्चर्यं सर्वविद्यायशःश्रियः ।

सर्वप्रभुत्वसंपत्तिर्दर्शनादेव लभ्यते ॥ ६९ ॥

अर्थ— चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्योंकी विभूति, इंद्रोंकी महा विभूति, सब प्रकारकी विद्या, यश, लक्ष्मी, सबका स्वामीपना और सब प्रकारकी संपत्ति सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे प्राप्त होती है ।)

भावार्थ— संसारमें जो जो उत्तम उत्तम ऐश्वर्य और विभूतियाँ हैं तथा जो जो उत्तम उत्तम पद हैं वे सब सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही मिलते हैं ।

महाब्रलं महाशीलं महाविद्यां महाधनम् ।

महान्वयप्रसूतत्वं लभते शुद्धदर्शनः ॥ ७० ॥

अर्थ— महाब्रल, महाशील, महा विद्या, महा धन और सर्वोक्तुष्ट महा कुलमें जन्म लेना आदि सब इन्हुद्दी सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे प्राप्त होता है । विना सम्यग्दर्शनके इनमेंसे कोई विभूति प्राप्त नहीं हो सकती ।

महेद्रमौलिभंदारदामसंदोहसौराम् ।

तीर्थेशांहिंद्यं देवाः सेवन्ते शुद्धदर्शनात् ॥ ७१ ॥

अर्थ— तीर्थकर परमदेवके चरण कमल अनेक बहे बहे इंद्रोंके मुकुटमें ल्या हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी मालाओंके समूहकी सुगंधिसे सुगंधित रहते हैं और उन चरण कमलोंकी सेवा सब देव करते हैं; यह उनके शुद्ध सम्प्रदर्शनका ही प्रभाव समझना चाहिये ।

भावार्थ— शुद्ध सम्प्रदर्शनकी मावनासे ही तीर्थकरपद प्राप्त होता है और उन तीर्थकर परमदेवके चरण कमलोंकी सेवा सब देव तथा इंद्र करते हैं । यह परमदृज्य पदकी प्राणि केवल सम्प्रदर्शनकी शुद्धतासे ही होती है । इसलिये सम्प्रदर्शनको सर्वथा शुद्ध रखना चाहिये ।

आगं— मोक्षका कारण जैसा सम्प्रदर्शन है वैसा ही सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र भी है इसलिये इन दोनोंका स्वरूप कहते हुए पहिले सम्यज्ञानका स्वरूप कहते हैं ।

यद्बुध्यते यथावस्थं स्वं एं परमार्थतः ।

प्रांतिसंदेहूरस्थो वोधः प्रोयं सदोदितः । ७२

अर्थ— आत्मा और आत्मासे भिन्न शरीर पुद्गल आदि अन्य द्रव्य जिस अवस्थामें हैं उनको संशय किर्यय और अनध्यवसाय रहित उसी प्रकार यथार्थ रीतिसे जानना सो आत्मामें सदा उदय होनेवाल्य सम्यज्ञान कहलाता है ।

भावार्थ— पदार्थोंके जाननेको ज्ञान कहते हैं । जो ज्ञान सम्प्रदर्शन पूर्वक होता है वह सम्यज्ञान कहलाता है । और जो ज्ञान सम्प्रदर्शन पूर्वक नहीं होता उसे मिथ्या ज्ञान कहते हैं । सम्यज्ञान संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों दोषोंसे रहित होता है । 'यह रसी है या सांप है' इस प्रकार एक ही पदार्थमें दो प्रकारके ज्ञान होनेको संशय कहते हैं । सांपको रसी जानना विपर्यय ज्ञान है और जाननेकी अनिच्छा होना अनध्यवसाय है । ये तीनों ही ज्ञानके दोष हैं और सम्यज्ञानमें ये तीनों ही दोष नहीं होते हैं । यह सम्यज्ञान स्वपर प्रकाशक है । दीरकके प्रकाशके समान वह अपने स्वरूपको भी प्रतिभासित करता है

और अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। तथा वह पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करता है और आत्मामें सदा प्रकाशमान रहता है।

आगे प्रत्येक भव्य जीवको सम्बन्धज्ञानी बनना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं।

बुद्धेः समयतो वापि तत्त्वं तत्त्वं परामृशन् ।

तत्त्ववेदी भवेद्द्वयो यदि निर्मलसं मनः ॥ ७३ ॥

अर्थ—अपनी बुद्धिसे अथवा शास्त्रोंके द्वारा यथार्थ तत्त्वोंका विचार करते हुए भव्य जीवोंको तत्त्वोंका। जानकार अवश्य बन जाना चाहिये। परंतु उन तत्त्वोंकी जानकारी। तभी हो सकती है जब कि उनका मन निर्मल हो। उनके मनमें किसी प्रकारकी मत्सरता वा ईर्षा डाह न हो।

भावार्थ—जिनका मन निर्मल होता है उन्हींके ज्ञानकी बुद्धि होती है। जिनके मनमें ईर्षा डाह होता है उनके हृदयमें ज्ञानका प्रवेश हो ही नहीं सकता। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले मनको निर्मल करना चाहिये और फिर शास्त्रोंका मानन कर तथा पठन पाठन कर तत्त्वोंका ज्ञान बढाना चाहिये।

यद्यर्थे दर्शितेष्वि स्यान्महामोहम्यामि मतिः ।

बुद्धिः प्रभातवत्तस्य वृथा रविर्जिपोरिव ॥ ७४ ॥

अर्थ—यदि पदार्थोंका स्वरूप दिखलानेपर भी बुद्धि महामोहरूप बनी रहे तो सर्वेरेके समय उल्लुकी बुद्धिके समान उसकी बुद्धि व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रभातके समय सब पदार्थोंके रहते हुए भी और अच्छा प्रकाश रहते हुए भी उल्लुकं कुछ दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार पदार्थोंका स्वरूप दिखलाते हुए भी जिनको पदार्थज्ञान न हो और जिनकी बुद्धिपर महामोहका परम्परा पड़ा रहे तो फिर उनकी बुद्धि उल्लुकी बुद्धिके गम्भान ही गम्भाना चाहिये।

आगे ज्ञानके भेद दिखलाते हैं ।

मतिश्रुत्यादिभेदेन बोधोऽथं बहुधा भवेत् ।

यावद्व परमो बोधस्तावद्वदा निरंतराः ॥ ७५ ॥

अर्थ—मति श्रुत आदिके भेदसे वह ज्ञान कई प्रकारका हो जाता है और जब तक केवलज्ञान प्रगट नहीं होता तब तक निरंतर ज्ञानके भेद प्रगट होते रहते हैं ।

भावार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्यज्ञान और केवलज्ञान ये पांच भेद तो ज्ञानके हैं ही । इनमें भी केवल ज्ञानको छोड़कर वाकीके चार ज्ञानोंके अनेक अनेक भेद हैं । जबतक केवलज्ञान नहीं होता तबतक जो ज्ञानमें हीनाधिकता होती रहती है वे सब ज्ञानके ही भेद समझने चाहिये ।

इस प्रकार सम्यज्ञानका निरूपण कर चुके । अब आगे संयम वा सम्कृचारित्रका निरूपण करते हैं ।

सर्वसावद्यतो हानिः संयमः परमो मतः

त्रिधाव्यापारसंरोधात्परमादासतामयः ॥ ७६ ॥

अर्थ—मन वचन काय तीनोंके व्यापारोंको रोकनेसे जो सब तरहकी पापरूप क्रियाओंका नाश हो जाना है और परम उदासीनता रूप भावोंका प्रगट हो जाना है उत्तीको परम संयम कहते हैं ।

भावार्थ—पाप सब मन वचन कायकी क्रियाओंसे होते हैं इसलिये उन पापोंका अभाव भी मन वचन कायकी क्रियाओंके रोकनेसे होता है । जिस समय मन वचन कायकी क्रिया रुककर सब पापोंका नाश हो जाता है उस समय परम उदासीनतारूप भाव अपने आप प्रगट हो जाता है । सब पापोंसे विमुक्त हो जानेको अथवा सब पापोंका त्याग कर देने को ही उदासीनतारूप भाव कहते हैं । और इसीको संयम वा चारित्र कहते हैं ।

आगे संयमके भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं ।

देशतः सर्वतो वापि संयमोयं द्विधा मतः ।

धर्मः प्रवर्तितः पूर्वः परः सर्वैवर्तितः ॥ ७७ ॥

अर्थ——वह संयम दो प्रकारका है: एक देश संयम और दूसरा सर्व-
संयम । उन पाँचोंके एक देश त्याग करनेको देश संयम कहते हैं और
पूर्णतया त्याग करनेका सर्वसंयम कहते हैं । पहला देश संयम प्रवृत्तिरूप
और दूसरा सर्वसंयम पूर्ण निवृत्तिरूप होता है ।

भावार्थ——देशसंयम गृहस्थोंके होता है और इसीलिये वह प्रवृ-
त्तिरूप धर्म कहलाता है । तथा पूर्णसंयम मुनियोंके होता है और इसी-
लिये वह पूर्ण निवृत्तिरूप होता है ।

आगे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंके समुदायको ही मोक्ष-
मार्गिना दिखलाते हैं ।

श्रद्धासंयमबोधानां समुदायात्मरं पदम् ।

विभिन्नेरभिरेव स्याद् भवं मिथ्यापरं पदम् ॥ ७८ ॥

अर्थ——सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समु-
दायसे मोक्ष पदकी प्राप्ति होती है । परंतु अलग रहनेवाले इन तीनोंसे
संसारकी वृद्धि होती है ।

भावार्थ——इन तीनों रत्नोंका समुदाय ही मोक्षका मार्ग है । यदि
ये तीनों ही अलग अलग हों तो कुछ फार्यकारी नहीं हैं ।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं ।

बोधसंयमहीनस्य श्रद्धा नैव शिवात्रया ।

फलंति नियतं नेह विनोपायैभेनोरथाः ॥ ७९ ॥

अर्थ——जिस सम्यग्दर्शनके साथ सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र
नहीं है उस सम्यग्दर्शन से कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि
यह निश्चित है कि इस संसारमें विना उपायोंके कभी मनोरथ सिद्ध नहीं
होते हैं ।

भावार्थ——कोई मनुष्य मनमें किसी कामका विचार करना रहे प-

रंतु उस कामके करनेकेलिये कुछ उपाय न करे तो ऐसी अवस्थामें उसका वह काम कभी नहीं हो सकता । इदि वही मनुष्य उस विचारके अनुसार उसके उपायोंकी जानकारी प्राप्त करे और फिर उन उपायों को करे तो फिर कहीं जाकर उस कार्यकी सिद्धि हो सकती है । इसी प्रकार केवल सत्त्वोंके श्रद्धानके साथ उन गत्त्वोंको जानना चाहिये । और फिर अपने शुद्ध आत्माके प्रगट करनेका उपाय करना चाहिये, तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंका नाश करना चाहिये । तब कहीं जाकर मोक्षकी प्राप्ति होती है । इससे सिद्ध हुआ कि तीनोंका समुदाय ही मोक्षका कारण है । अकेला सम्यदर्शन मोक्षका कारण नहीं है ।

आगे दिखलाते हैं कि अकेले सम्यज्ञानसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ।

✓ श्रद्धासंयमहीनेन बोधेनार्थं न तत्यदम् ।

न शंखुवेदनादेव महोदन्योऽप्रशान्त्यति ॥ ८० ॥

अर्थ — सम्यदर्शन और प्रम्यकृचारित्रिके बिना केवल सम्यग्ज्ञानसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि केवल पानीको जान लेनेसे ही प्यास शांत नहीं हो जाता ।

भावार्थ — जिस प्रकार केवल पानीको जान लेनेसे ही उस पानीसे प्यास शांत नहीं हो जाती । जब वह पहले यह निश्चय कर लेगा कि पानीसे प्यास बुझ जाती है, और ऐसा निश्चय करनेके बाद जब उसे पानीका ज्ञान होगा और फिर वह उस पानीको पींबांगा तब कहीं जाकर वह प्यास शांत होगी । केवल पानीको जान लेनेसे प्यास शांत नहीं होती । इसी प्रकार सम्यदर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंके समुदायसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अकेले ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । जब तक उसे यह श्रद्धा न हो कि कर्मोंके नाश हो जानेसे शुद्ध आत्माकी प्रार्थि होती है । तब तक वह उन कर्मोंके नाश करनेमें प्रवृत्त नहीं होता । और जब तक वह कर्मोंके नाश

करनेमें प्रवृत्त नहीं होता तब तक तत्त्वोंको जानता हुआ भी कर्मोंको नहु नहीं कर सकता अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । इससे सिद्ध हुआ कि अकेले ज्ञानसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

अगे अकेले चारित्रसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती—यह बात बतलाते हैं ।

श्रद्धाकोषविहीनस्य तपसा नैव तत्फलम् ।

दुःस्थितैरन्यथा प्राप्य फलं ममससंस्थितम् ॥ ८१ ॥

अर्थ——सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञानके बिना केवल तपश्चरणसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन और बिना सम्यज्ञानके मिथ्या ज्ञान और मिथ्या श्रद्धानके होनेसे मनकी निर्मलता नहीं हो सकती । मनकी निर्मलताके बिना अशुभ परिणामोंकी शांति नहीं हो सकती । और अशुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका आस्त बहुत होता है । इस प्रकार बिना सम्यग्दर्शन और बिना सम्यज्ञानके धारण किए हुआ चारित्र मिथ्या चारित्र कहलाता है । उस मिथ्या चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । वह तो संसारके दुःखोंका बढाने ही वाला है । क्योंकि उस मिथ्या चारित्रसे अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं । उससे शुद्ध परिणाम नहीं होते । शुद्ध परिणामोंके बिना कर्मोंका नाश नहीं हो सकता, और कर्मोंके नाश हुए बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतएव सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान सम्यक्चारित्र—तीनोंके समुदायसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है; अलग अलगसे नहीं ।

महाफलप्रदो नैव निबौधस्य तप्तोविधिः ।

कृथा शंखो धनुर्धन्वा राघ्रावेधात्र धावति ॥ ८२ ॥

अर्थ——सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञानके बिना जो तपश्चरण किए जाता है उससे भी मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती । जिस प्रकार किसी अंधे पुरुषका हाथमें धनुष्य लेकर निशाना लगानेके लिये दौड़ना अर्थ है उसी प्रकार बिना ज्ञानके तपश्चरण करना भी अर्थ है ।

भावार्थ— जिस प्रकार अंधा मनुष्य हाथमें धनुष लेकर भी निशाना नहीं लगा सकता। निशाना लगानेके लिये उसका दौड़ना व्यर्थ है। क्योंकि उसे उस निशानका न तो निश्चय है और न वह उसे जानता है कि कहाँ है। वह उसे देख नहीं सकता इसलिये वह उस निशानको लगा नहीं सकता। इसी प्रकार सम्यदर्शन और सम्यज्ञानके बिना किया हुवा तपश्चरण भी व्यर्थ है। क्योंकि बिना सम्यदर्शन और सम्यज्ञानके तपश्चरण करनेवाला यह निश्चय नहीं कर सकता कि शुद्ध आत्माका स्वरूप कैसा है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है तथा वह कर्मोंके नाश करनेके उपायोंको भी जानता नहीं। केवल अंधे पुरुषके समान किया करता है इसलिये उसकी वह किया। निष्फल हो जाती है। उससे उसका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिये बिना सम्यदर्शन और बिना सम्यज्ञानके धारण किया हुवा तपश्चरण वा चारित्र भी व्यर्थ ही है। उससे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

लिखा भी है।

ज्ञानं पंगोः क्रिया वांधे निःश्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।

तस्माज्ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥ ४२ ॥

अर्थ— किसी बनमें अग्नि लग जानेपर लंगडा मनुष्य अग्निको देखता और जानता हुआ भी भाग न सकनेके कारण उस अग्निसे बच नहीं सकता। इसी तरह अंधा मनुष्य भी भागनेकी शक्ति रखता है तथापि दिखाई न देनेके कारण उस अग्निसे बच नहीं सकता। और आलसी मनुष्य भागने और देखनेकी शक्ति रखता हुआ भी आलस्य के कारण उसमें जल मरता है। इस प्रकार बिना ज्ञान और चारित्रके अद्वान कुछ नहीं कर सकता। बिना सम्यदर्शन और चारित्रके ज्ञान कुछ नहीं कर सकता। और बिना सम्यदर्शन सम्यज्ञानके चारित्र कुछ नहीं कर सकता। जब सम्यदर्शन सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिलते हैं—तीनों मिलकर एक रूप। होते हैं—तभी मोक्षके पूर्ण रूपसे कारण होते हैं। अथात् उसी समय मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आगे निश्चय सम्यग्दर्शनको कहते हैं ।

बाह्यसंवेदनैः सर्वैर्यस्यात्मा नैव। लिप्यते ।

स्वसामान्यरसाधीनो विशुद्धं तस्य दर्शनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अपने स्वानुभूतिरूप सामान्य रसके आधीन हुआ जिसका आत्मा बाह्य समस्त अनुभवोंसे लिपि नहीं होता उसीका सम्यग्दर्शन विशुद्ध समझना चाहिये ।

भावार्थ—जिसकी रुचि शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें नहीं होती—जो स्वानुभूतिरूप अपने आत्माके रसमें ही प्रेम करता है—शुद्ध आत्माको छोड़कर अन्य किसी पदार्थमें जिसकी श्रद्धा नहीं है—केवल शुद्ध आत्मामें ही जिसको गाढ़ श्रद्धा है उसीके विशुद्ध सम्यग्दर्शन अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन समझना चाहिये ।

आगे इसी बातको बतलाते हैं ।

निर्विशेषं स्वयं यस्य विशुद्धं ऋस्य दर्शनम् ।

तस्यैव दर्शनं शुद्धं स्वानुभूतिरूपदम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिसकी शुद्धात्मश्रद्धा विशुद्ध है और भेद प्रभेद आदि विशेषताओंसे रहित है उसीका सम्यग्दर्शन स्वानुभूतिरूप फलको देनेवाला है ।

भावार्थ—स्वानुभूतिका प्रगट होना ही सम्यग्दर्शनका फल है और वह स्वानुभूति तभी हो सकती है जब कि शुद्ध आत्माका गाढ़ श्रद्धान हो । वह शुद्ध आत्माका गाढ़ श्रद्धान निश्चल और अत्यंत शुद्ध होता है । उसमें भेद प्रभेद वा विशेषताएं कुछ नहीं होतीं । ऐसा सम्यग्दर्शन ही शुद्ध वा निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है ।

स्वानुभूतिरसाधीनो यो बाह्यं चेव श्रद्धते ।

परानंदसुधास्वादं विशुद्धं तस्य दर्शनम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—जिसका आत्मा केवल स्वानुभूतिरूप रसके आधीन है; जो स्वानुभूतिके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थका श्रद्धान नहीं करता उसी-

का सम्यग्दर्शन विशुद्ध समझना चाहिये । उसी सम्यग्दर्शनमें परम आनंद रूपी अमृतका स्वाद आता है ।

भावार्थ—परमानंद अन्य गदाथोंकी अभिरुचिमें नहीं है । वह शुद्ध आत्माकी अभिरुचिमें है । इसलिये शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है ।

आगे निश्चय सम्यज्ञानका स्वरूप कहते हैं ।

शुद्धवृद्धः स्वभावस्थैर्विशेषैस्तस्य वेदनम् ।

परद्रव्यवहिर्भृतेस्तस्य संवेदनं ध्रुवम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो ज्ञान परद्रव्योंसे मिल है—आत्माके शुद्ध स्वभावसे उत्पन्न हुआ है और परम शुद्ध है, विशेषाको धारण करनेवाला है और स्वयं बुद्ध है—अपने स्वरूपको भी जानता है उस ज्ञानके द्वारा उसी शुद्ध आत्माको जानना निश्चय सम्यज्ञान है ।

भावार्थ—पर पदाथोंका जानना निश्चय ज्ञान नहीं है किंतु शुद्ध केवलज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माका अनुभव करना निश्चय सम्यज्ञान है ।

शुद्धात्मरूपसंवित्तिस्वादानुभवसंभवम् ।

यद्भवेदेदनं शुद्धं तद्वि संवेदनं स्मृतम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—शुद्ध आत्माके ज्ञानरूप स्वादके अनुभवसे उत्पन्न हुआ जो शुद्ध आत्माका अनुभव है वह निश्चय ज्ञान कहलाता है ।

भावार्थ—शुद्ध आत्माका संवेदन ही निश्चय ज्ञान है ।

आगे निश्चय संयमको कहते हैं ।

स्वात्मस्वभावसंशुद्धबोधदर्शनतामयः ।

यदात्मनः स्थिरोभावः स शुद्धः संयमो मतः ॥ ८८ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञान अपने आत्माके शुद्ध स्वभावरूप है और अत्यंत निर्मल है उस रूप आत्माकी निश्चल अवस्थाका हो जाना शुद्ध संयम कहलाता है ।

भावार्थ—शुद्ध आत्माका शुद्ध आत्मामें ही लीन हो जाना निश्चय चारित्र है ।

आगे अल्पा अल्पा होनेवाले ज्ञान और संयमको व्यर्थपना दिल्ली
लाते हैं।

शैलूषस्येव सा विद्या या न रहवृत्तसंश्रया ।

संयमो बोधहीनस्य महिषे तालनर्तनम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो ज्ञान सम्यक् चारित्रके आश्रय नहीं है उस ज्ञानको
नटकी विद्याओंके समान समझना चाहिए। तथा जो संयम सम्यज्ञान
रहित है वह भैंसके सामने तालपर नाचनेके समान व्यर्थ समझना चाहिए।

भावार्थ—सम्यज्ञान का फल सम्यक् चारित्र ही है। जो ज्ञान चा-
रित्ररहित है वह निष्फल वा व्यर्थ ही है। जिस प्रकार नटकी विद्या
केवल दो रोटियाँ कमानेके काम आर्ता है; वह उससे और कुछ लाभ
नहीं उठा सकता उसी प्रकार चारित्र रहित ज्ञानसे कुछ लाभ नहीं
हो सकता। वह व्यर्थ ही है। इसी प्रकार ज्ञानरहित चारित्र भी
व्यर्थ ही है। जिस प्रकार भैंसके सामने ताल बजाने वा नृत्य करनेसे
कोई लाभ नहीं होता क्योंकि वह भैंस झुँठ समझती ही नहीं। उसी
प्रकार विना ज्ञानके संयम पालनी करना भी व्यर्थ है। उस संयमसे कोई
लाभ नहीं होता।

आगे सम्यगदर्शन सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्रिका फल बतलाते हैं

दर्शनात्सौख्यसंप्राप्तिवैधादूरणसिद्धता ।

सर्वमान्यो भवेद् बृत्तात्रितयान्तरम् पदम् ॥ ९० ॥

अर्थ—सम्यगदर्शनसे सुखकी प्राप्ति होती है, सम्यज्ञानसे दूर दूर
तक प्रसिद्धि होती है, सम्यक् चारित्रिसे यह मनुष्य जगत्यूज्य बन जाता है
और इन तीनों के समुदायसे मोक्षरूप जरम पद प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—सम्यगदर्शनकी प्राप्ति होनेके बाद इस जीवको फिर सं-
सारका कोई दुःख प्राप्त नहीं होता। पिर तो इंद्र चक्रवर्ती आदिके उत्तम
उत्तम सुख ही प्राप्त होते रहते हैं। इसी प्रकार सम्यज्ञानकी बृद्धि होने-
से यह मनुष्य देश देशान्तरोंमें प्रमिल हो जाता है। अनेक तलोंकी जान-

कारी और वक्तुल्व शक्तिके कारण उसकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ जाती है। तथा जो चारित्र धारण करता है वह संसार भरमें पूज्य और मान्य माना जाता है। और यदि इन तीनों शब्दों की पूर्णता हो जाय तो उसी समय इस जीवको मोक्ष पदकी प्राप्ति हो जाती है।

लिखा भी है,

वृत्तं वन्हिरुपायो धीदेश्वरं परमौषधिः ।

साधुसिद्धो भवेद् तत्त्वाभादात्मपारदः ॥

अर्थ—इस आत्मरूप पारेको अच्छी तरह सिद्ध करनेके लिये सम्यक् चारित्र तो अग्नि है। सम्यज्ञान उसका उपाय है और सम्यग्दर्शन परम औषधि है। इन तीनोंके मिलनेसे ही आत्माको सिद्धि अच्छी तरह होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार पारेको सिद्ध करनेके लिये सबसे पहले औषधिकी आवश्यकता होती है। विना औषधिके पारा कभी सिद्ध हो नहीं सकता। इसी प्रकार आत्माको सिद्ध करनेके लिये सबसे पहले सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता होती है। विना सम्यग्दर्शनके यह आत्मा कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार औषधि के प्राप्त हो जानेपर उसको सिद्ध करनेके उपायोंकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार आत्माको सिद्ध करनेके लिये सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यज्ञानकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार विना उपायोंके पारा सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार विना सम्यज्ञानके भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता। तथा उपायोंके और औषधिके रहते हुए भी विना अग्निके पारा सिद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञानके रहते हुए भी विना चारित्रके यह आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्रके शास्त्र होनेसे ही आत्मा सिद्ध होता है। इन तीनोंका आश्रय शालोमें इस प्रकार लिखा है।

दर्शनस्याथ्रमः स्वान्तरमभ्यासो मतिसम्पदः ।

सद्गुरुत्तम्य जगीरं स्याह्नित्तं दानादिसविधिः ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका आश्रय मन है। ज्ञानका अभ्यास बुद्धिस्थीर सेफदासे होता है। सम्यक्‌चारित्रिका आश्रय शरीर है और दान पूजा आदि उत्तम क्रियाओंका आश्रय धन है।

भावार्थ—संसारके समस्त पाप मनसे ही होते हैं। यदि समस्त पापोंका त्यागकर मनको निर्मल कर लिया जाय तो उस निर्मल मनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी। मनकी निर्मलताका होना आत्माकी विशुद्धताका सुचक है। जिसका आत्मा विशुद्ध होता है उसीका मन शुद्ध होता है। तथा शुद्ध आत्मामें ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। और इस प्रकार शुद्ध मन ही सम्यग्दर्शनका आश्रय है। इसी प्रकार ज्ञानकी वृद्धि बुद्धिसे होती है। बुद्धि तीव्र हो तो अभ्यास करनेसे ज्ञानकी वृद्धि हो जाती है। यदि बुद्धि तीव्र न हो तो ज्ञान बढ़ता नहीं। और बढ़ता है तो बहुत कम। यथेष्ट नहीं बढ़ता। इसलिये यह ठीक है कि ज्ञानकी वृद्धिका कारण बुद्धिकी तीव्रता है। इसी तरह सम्यक्‌चारित्रिका आधार शरीर है। अंतस्थ बहिरंग सब प्रकारके तपश्चरण शरीरसे ही किये जाते हैं। विना शरीरके कोई भी तपश्चरण नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञान तो विना शरीरके सिद्धोंमें भी रहते हैं। परंतु तपश्चरण महात्रत आदि सम्यक्‌चारित्र विना शरीरके हो ही नहीं सकते हैं। इसीलिये कहा गया है कि सम्यक्‌चारित्र का आधार शरीर है। इसी प्रकार दान पूजा जो कि श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है वह धनके ही आश्रित है। विना धनके न तो यह गृहस्थ दान दे सकता है न पूजा कर सकता है, न जिनभवन बनवा सकता है, न प्रतिमा विराजमान कर सकता है, न स्वाध्यायशाला बनवा सकता है और न शास्त्रदान देकर ज्ञानकी वृद्धि कर सकता है। विना धनके मुनियोंके लिये मठ आदि भी नहीं बनवा सकता, न तीर्थ यात्रा कर सकता है, न रथोत्सव कर सकता है और न महामह आदि महायज्ञ कर सकता है। विना धनके यह गृहस्थ कोई भी पुण्य कार्य नहीं कर सकता। इसलिये दान

पूजा आदि उच्चम उच्चम किशोरोंका आधार धन ही है। इस प्रकार रत्नवयके जो जो साधन हैं उनसे इनकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये। मनुष्य अम पाकर और इस उत्तम आवक कुलमें जन्म लेकर रत्नवयकी प्राप्ति अवश्य कर लेनी चाहिये यही सब शास्त्रों का सार है।

इस प्रकार विद्वर्दय भी यशःकीर्ति आचार्य विरचित प्रबोधसार
नाम प्रथमे रत्नवयको मिरूपण करनेवाला यह पहला
अध्याय चावली (आगरा) निवासी लालाराम
जैन धार्मी कृत हिंदी भाषामें
समाप्त हुआ।

दूसरा अध्याय।

आगे व्रतकी महिमा दिखलाते हैं ।

संपदैव महाविद्या विनयेनैव पौरुषम् ।

शीलेनैव महारूपं व्रतेनाभाति दर्शनम् ॥ १ ॥

अर्थ—महाविद्याएं सब संपदाधोंसे ही शोभायमान होती हैं, परं कम वा बल विनय से ही शोभा पाता है और सुंदररूप शील पालन करनेसे ही सुशोभित होता है इसी प्रकार सम्यादर्शनकी शोभा भी ऐसोंसे ही होती है ।

आगे आवकोंके व्रत कहते हैं ।

देशसंयमिनां हेयं मध्यमासमधुत्रयम् ।

नवनीतं तथा सर्वेः फलैरौद्रुम्बरैः सह ॥ २ ॥

अर्थ—देशसंयमी गृहस्थोंको मङ्ग मांस मधु इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये तथा नवनीत वा मक्खनका त्याग कर देना चाहिये और सब प्रकारके लदम्बर फलोंका त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ— मध्य मांस मधुका त्याग और पांच उदुम्बरोंका त्याग देखो गति/३
ये आठ मूल गुण तो सब जगह हैं ही परंतु यहांपर नवनीतका त्याग ३५
और कराया है। अन्य आचार्योंने नवनीतका त्याग भोगोपभोग परिमाण
ब्रतमें कराया है। परंतु इस ग्रंथमें यहां ही नवनीतका त्याग करा दिया
है। इसीलिये ग्रंथकारने यह क्षेत्रके मूलगृह कहनेकी प्रतिज्ञारूपसे नहीं
लिखा है। किंतु साधारण ब्रतोंके कहनेकी प्रतिज्ञारूपसे लिखा है।

आगे मध्यके दोष दिखलाते हैं।

सर्वे दोषाः सुरापानात्सर्वमोहोदयस्तथा ।

सर्वासां पापवृत्तीनां मंदिरं सर्वसम्मतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस बातको सब लोग मानते हैं कि मध्यके पीनेसे सब
दोष उत्पन्न होते हैं। मोहनीय कर्मका प्रबल उदय हो जाता है। और
मध्यका सेवन करना समस्त पाप कार्योंका घर है।

भावार्थ— मध्य पीनेसे यह मनुष्य मोहित वा-
बेहोश तो हो ही जाता है। तथा बेहोश होकर धर्मको भूल जाता है।
और धर्मको भूल जानेके कारण सब त्राहके पाप करने ला जाता
है। इसीलिये उसके निकट सब प्रकारके दोष आ जाते हैं।
इसलिये मध्य सेवनका भव्यता त्याग कर देना ही उचित है।

आगे और भी मध्यके दोष दिखलाते हैं।

मध्यपस्य शुबस्येव पतितस्य महायथे ।

मृत्रयन्त्यानने श्वानो व्यासे विवरसंशयात् ॥ ४ ॥

अर्थ— मध्य पीनेवाले अच्छे अच्छे हो लोग मध्य पीकर बड़े बड़े
बाजारोंमें वा रास्तोंमें मुर्देके समान गिरकर बेहोश हो जाते हैं। मध्यकी
गर्भीके कारण उनके मुह खुले रहते हैं और फिर छिद्र समझकर कुछे
उनमें मूता करते हैं।

(मध्यमोहपराभूता बुद्ध्यन्ते न हिताहितम् ।

हिताहितविमोहेन भवं पापं नकाशयन् ॥ ५ ॥)

अर्थ— मद्यके मोहसे मोहित होकर लोग अपने हित अहितको नहीं समझ सकते । तथा जो मनुष्य इतने बेसुध हैं कि अपने हित अहित को भी नहीं समझ सकते वे बिना किसी रुकावटके मनमाना पाप करते हैं ।

यापास्त्रवाद्वयब्रान्तिरनन्तामन्तसंस्थितिः ।

ततो मद्यविमोहोऽं दूरतः गरिहाप्यताम् ॥ ६ ॥

अर्थ— फिर पाप कर्मोंका आखब होनेके कारण यह जीव अनंतानंत कालतक संसारमें परिश्रमण करता है । इस लिये इस मद्यके पीनेके व्ययनको दूरसे ही छोड़ देना चाहिये ।

भावार्थ — मद्यके पापोंसे उत्पन्न हुए दोषोंके कारण यह जीव अनंतानंत काल तक नरक निगोद आदिके ही दुःख सहन किया करता है और फिर वह दुःखोंकी परंपरा ऐत्री बंध जाती है कि फिर कभी छूटती ही नहीं । इसलिये मद्यका सदाकेलिये त्याग कर देना चाहिये ।

निष्पद्यन्ते विष्पद्यन्ते देहिनो मद्यसम्भवाः ।

विदौ विन्दौ सदानन्ता मध्यरूपसावहाः ॥ ७ ॥

अर्थ— मद्यकी एक एक बूँदमें उस मद्यके ही रूप रसको धारण करने वाले अनंतानंत जीव हर समय उत्पन्न होते रहते हैं और हर समय मरते रहते हैं ।

भावार्थ— फूल गुड अन्न आदि पदार्थोंको सड़कर उनका अर्क निकलनेपर मद्य तैयार होता है । जो पदार्थ सड़ जाते हैं उनमें बड़ी बड़ी लट्टें तथा अन्य अनेक प्रकारके जीव उत्पन्न हो जाते हैं । मद्य बनाते समय उन सबका अर्क निकाला जाता है इसलिये उस अर्कमें वा उस मध्यमें उन सब कीड़ोंके मांस रुधिरका अर्क आ जाता है । इस प्रकार वह मद्य उन कीड़ोंके मांस और रुधिरके अर्क रूप ही गिना जाता है । जिसमें रुधिर और मांसका अर्क है उसमें निरंतर कीड़ोंकी उत्पत्ति होनी ही चाहिये । वे कीड़े मद्यके समान ही रूप रस वाले होते हैं । वे कीड़े प्रत्येक समयमें अनंतानंतकी संख्यामें उत्पन्न होते हैं और

अनंतानंतकी संस्था में उत्पन्न होते हैं और अनंतानंतकी संस्था में ही मरते रहते हैं। इसलिये मध्यकी एक बूँद स्पर्श करनेसे भी अनंतानंत जीवोंकी हिसाका पाप लगता है। अतएव मध्यका स्पर्श तक करना महापाप है।

आगे अनुमान प्रमाणके द्वारा मध्यकी एक बूँदमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका प्रमाण दिखलाते हैं।

〈मध्यविन्दुलब्रोत्पन्ना देहिनो यदि दैवतः ।

प्रसरन्ति तदा नूनं भुवनं पृथ्यन्त्यमी ॥ ८ ॥

अर्थ— यदि दैवयोगसे मध्यकी एक बूँदके एक छोटेसे हिस्से में उत्पन्न होनेवाले जीव उड़कर फैलने लगे तो उनसे यह समस्त संसार मह जाय। 〉

भावार्थ— यह यहिं बता चुके हैं कि मध्यकी एक बूँदमें भी एक समयमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी संस्था अनंतानंत है। फिर भला उनसे संसार भरजाना एक साधारणमी बात है। इस लिये मध्यकी एक बूँदका स्पर्श करनेसे भी इतने जीवोंका घात होता है। अतएव मध्य किसी काममें नहीं लानी चाहिये, उसका स्पर्श तक भी नहीं करना चाहिये।

लिखा भी है।

मनेमोहस्य हेतुत्वाऽन्नदानाऽद्वाषदाम् ।

मन्दं सन्ति सदा हेयमिदामुत्र च देषभृन् ॥

अर्थ— यह मद्ध मनको मोहित करनेका कारण है और संसारकी समस्त आपत्तियोंका कारण है। इसके सिवाय वह इस लोकमें भी अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाला है, और परलोकमें भी नरक निगोद के अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला है। इसलिये सज्जन पुरुषोंको सदा केलिये हस्तका त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ— यह निश्चित है कि मध्य पीनेसे बेहोशी आ जाती है जिससे बेहोशीमें धर्म कर्म यज्ञ नूल जाता है और मन माने पाप करने

लगता है। इसीलिये संसारके अनेत दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। यदि संसारके दुखोंसे बचना है तो सबसे पहिले मध्यका त्याग कर देना चाहिये। आगे मांसके दोष बतलाते हैं।

(यदेहिदेहसंभृतमपवित्रं स्वभावतः ।

हिंसातोऽन्यत्र दुष्प्राप्यं तन्न मांसं सतां मतम् ॥ ९ ॥

(अर्थ— मांस निश्चयसे जीवोंके शरीरसे उत्पन्न होता है। तथा वह स्वभावसे ही अपवित्र है और हिंसाकि सिवाय अन्य किसी तरह उत्पन्न नहीं हो सकता। इन्हीं सब कारणोंसे सज्जन लोग मांसको कभी स्वीकार नहीं करते हैं।)

भावार्थ— मांस त्रस जीवोंके शरीरसे ही उत्पन्न होता है विना त्रस जीवोंके धात किये मांसकी उत्पत्ति नहीं है। इसके सिवाय मांस अत्यंत अपवित्र है—और इतना अपर्जित्र है कि उसका स्पर्श करना भी योग्य नहीं है। यदि कारणवश उसका स्पर्श हो जाय तो उसी समय स्नान करना चाहिये। इतने अपवित्र और हिंसामय मांसका सेवन करना बुद्धिमानोंका काम नहीं है। इसको दूरसे ही छोड़ देना बुद्धिमानी है।

परमांसैः स्वमांसस्य पोषोर्पि हि विधीयताम् ।

यमो यदि स्वमांसानि नाञ्जात्येष पदे पदे ॥ १० ॥

अर्थ— यदि यह यमराज पद पद्मार अपने मांसको अहण न करे तथा तो दूसरे के मांससे अपने मांसकी पुष्टि करना भी किसी तरह ठीक समझा जाय।

भावार्थ— इस जीवकी आयु क्षण क्षणमें घटती जाती है। उद्धवासके साथ ही आयु घटती रहती है। यह प्रत्येक क्षणमें होनेवाली मृत्यु कहलाती है। ऐसी प्रत्येक क्षणमें होनेवाली मृत्यु प्रत्येक जीवके सत्रा होती रहती है। जब इस जीवकी मृत्यु प्रत्येक क्षणमें होती रहती है तो दूसरे के मांससे अपने मांसका बढ़ाना व्यर्थ ही है। केवल पापका कारण

है। उससे कोई लाभ नहीं होता। अतएव पापसे डरनेवाले जीवोंको मांससे दूर ही रहना चाहिये। इसका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

पूर्वधर्मबलात्प्राप्य शर्मसंतानमुत्तमम् ।

तत्रापि मांसमाधत्ते तर्हि मांहो महाबलः ॥ ११ ॥

अर्थ—पहिले जन्ममें कोई प्रबल पुण्य कर्म किया था उसके उदयसे ही उत्तम कुलमें जन्म प्राप्त हुआ है और आत्मकल्याणका सुभीता मिला है। यदि ऐसे उत्तम शरीरको ग्रहण किया जाय तो फिर मोहनीय कर्मका बड़ा ही प्रबल उदय समझना चाहिये।

भावार्थ—उत्तम मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल और उत्तम धर्मको पाकर भी मांसका सेवन करना अत्यंत नीचता है। उत्तम कुल वालोंको तो कभी इसका स्पर्श तक नहीं करना चाहिये।

प्रार्थितार्थप्रदं प्राप्य फलनसामरपादपम् ।

संदेहाद्यो भवेन्मन्दो दयाधर्मेष्ठि शर्मदे ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सब प्रकार ग्रेन कल्याण करनेवाले दयारूप धर्ममें मंद प्रवृत्ति करता है वह इच्छानुसार समस्त पदार्थोंको देनेवाले और फलोंसे नम्र हुए कल्पवृक्षको जला देता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य कल्पवृक्षको पाकर भी उसको जलादे और उससे यथेष्ट लाभ न उठाते तो उसकी वह सबसे बड़ी अज्ञानता ही समझनी चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य दयाधर्मको पाकर भी उसमें संदेह करता है और उसका यथेष्ट पालन नहीं करता उस भी महामूर्ख ही समझना चाहिये। वास्तमें देखा जाय तो धर्मका स्वरूप ही दया है। विना दयाके यह मनुष्य न कोई अनेक पाप करते हुए अपने आत्माको ही उन पापोंसे बचा सकता है और न अन्य जीवोंकी रक्षा ही कर सकता है। संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि दया सब सुखोंकी जड़ है और दया न करना सब पापोंकी वा सब दुःखोंकी जड़ है। इसलिये दया पालन करना सब मनुष्योंका प्रधान कर्तव्य है।

स्वलपायासान्महालभ्य यद्गाहत महामतिः ।

यदनर्थप्रदं स्वस्य तत्परस्य न निर्दिशेत् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो महा बुद्धिमान् भनुष्य थोडे ही परिश्रमसे महा लाभ प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे दूसरोंके लिये ऐसे काम कभी न करें जो कि अपनेलिये अनर्थ करनेवाले हों ।

भावार्थ—प्रत्येक बुद्धिमान् भनुष्यको यह समझ लेना चाहिये कि जो काम अपने लिये दुःख देनेवाला वा बुरा लगनेवाला है वह काम दूसरोंके लिये भी दुःख देनेवाला वा बुरा लगनेवाला है । इसलिये जो काम अपने लिये दुःख देनेवाला है असनी हानि करनेवाला है ऐसा काम दूसरोंके लिये कभी नहीं करना चाहिये । ऐसा करनेमें कुछ परिश्रम भी नहीं पड़ता और उसका फल बहुत ही उत्तम होता है । जो 'मनुष्य' हम लोगोंपर दया करते हैं उनसे हम लोगोंको बहुत ही सुख मिलता है । यदि इसी प्रकार हम लोग भी अन्य जीवोंपर दया करें तो उन लोगोंको भी बहुत ही सुख मिलेगा । दया पालन करनेसे अनायास ही सब जीवोंको सुख मिलता है । दया पालन करना सुखकी पहिली सीढ़ी है । इसीलिये प्रत्येक भनुष्यको प्रत्येक समय दया पालन करना अपना धर्म समझना चाहिये ।

आवमानोपि शर्मेह परत्रापि शुभाश्रयः ।

ममवेद्यपराहिस्तो दयादामपरो नरः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो 'मनुष्य' पर लोकके सुखोंकी इच्छा करता हुआ भी इस लोकके सुख चाहता है उस भनुष्यको अन्य जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और दया पालन करने तथा दान देनेमें सदा उत्पर रहना चाहिये ।

भावार्थ—जो मनुष्य अन्य जीवोंकी कभी हिंसा नहीं करता है और दान पूजा आदि गृहस्थोंके धर्मको अच्छी तरह पालन करता है उन्हें हम लोकमें भी सुख पास होते हैं और पर लोकमें भी सुख पास होने

हैं। इसलिये पर लोकके सुखके जो जो करण हैं उनको सुरक्षित रखते हुए इस लोकके सुख भोगने चाहिये। यह खूब समझ लेना चाहिये कि सुख भोगनेसे पाप नहीं होता है किंतु सुखके कारणभूत दया दान आदि धर्म कार्योंके घात करनेसे पाप होता है। इसलिये जिमरुआ करना, दान देना दया पालन करना आदि धार्मिककार्योंको करते हुए सांसारिक सुखों का अनुभव करना चाहिये।

स पुमान् भृत्रये नूजं मायातोऽर्थमन्दिरम् ।

तदा त्वशर्मता लौभाग्यो न मुक्तिं धर्मैतः ॥ १५॥

अर्थ—जो मनुष्य सांसारिक सुखोंका लोभ छोड़ कर धर्मकार्योंसे मोहित नहीं होता वह मनुष्य तीनों लोकोंमें दुःखोंके मरमरमें कभी नहीं पहुंचता।

भावार्थ—सांसारिक सुख नहीं है किंतु एक 'प्रकारकी' वेदनाके प्रतीकारूप हैं। इसलिये इनके लोभमें कभी नहीं फँसता चाहिये। और धर्मकार्योंकी कभी नहीं भूलना चाहिये। ये मनुष्य इन सुखोंमें कभी नहीं फँसता और धर्मकार्योंमें मोहित नहीं होता। अर्थात् धर्मकार्योंकी 'नहीं छोड़ता' उसे कभी दुःख नहीं होता।

आगे जो दया पालन नहीं करता उसकेलिये बहते हैं ।

स श्रीमारः परं पापी पश्चारपि महापशुः ।

यो न मर्त्यमवं प्राप्य दयाधर्मं निषेवते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो जीव मनुष्यजन्मको पाकर भी दयाधर्मका 'सेवन' नहीं करता वह पृथ्वीके लिये भास्त्र है, 'महापशी' है। और पशुसे भी बदल नहापशु है।

भावार्थ—दया पालन करना मनुष्यका 'सामाजिक धर्म' है। बहुतसे पशु भी ऐसे हैं जो दयाधर्मका शालन करते हैं और अपने अपने बच्चोंपर तो सभी दया करते हैं। इसलिये जो मनुष्य मनुष्य होकर भी दया पालन 'करता' 'करता' या 'मर्मका' सेवन करता त्रिसा 'अपना है' 'करता' 'उस' 'कर-

ओंसे भी निद्या और नीच है। इसलिये मनुष्यजन्म पाकर दयाधर्मका पालन अवश्य करना चाहिये।

आगे धर्मत्साकी प्रशंसा करते हैं।

स विद्वान् स महामान्यः स धीमान् तत्त्वधीधनः ।

योऽश्वनपि फलं धर्माद्वर्मेभवति तत्परः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मके फलका उपभोग करता हुआ भी धर्ममें तत्पर रहता है वही मनुष्य विद्वान् है। वही महा माननीय है वही बुद्धिमान है और वही तत्त्वोचित मनन वा विचार करनेवाला विचारशील है।

भावार्थ—भोगोपभोगकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है इसलिये भोगोपभोगोंका सेवन करते हुए भी प्रत्येक मनुष्यको धर्मसेवन करनेमें तत्पर रहना चाहिये। इस जन्ममें जो भोगोपभोगोंकी प्राप्ति हुई है वह पहिले जन्ममें किये हुए धर्मसेवनके फलसे ही हुई है। क्योंकि यह निश्चित सिद्धांत है कि विना धर्मके सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये यदि हमें आगेके जन्मोंमें भी सुख प्राप्त करना है और भोगोपभोग सामग्रियों का उपभोग करना है तो इस जन्ममें भी अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक धर्म सेवन करना चाहिये। यही मनुष्यकी बुद्धिमत्ता है, यही विचारशीलता है और इसीमें उसका बढ़प्पन है।

आगे जो अधर्म नहीं करता उसकी प्रशंसा करते हैं।

यः स्वतो वाऽन्यतो णायि नाधर्माय समीहते ।

विश्वत्रयशिरोरत्नं तं पुमांसं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने आप अथवा किसी अन्यकी प्रेरणा से भी अधर्मके सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता उसी मनुष्यको विद्वान् लोग तीनों लोकोंके मस्तकका रत्न मानते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें कहुतसे मनुष्य ऐसे हैं जो अपने आप कभी पापकार्य नहीं करते। परंतु उन्होंने भी वहुतसे ऐसे हैं जो अपने आप तो

पाप कार्य नहीं करते। परंतु दूसरोंकी प्रेरणामें बहकानेसे उन पाप कार्यों को कर डालते हैं। जो लोग न तो उन पापोंको स्वयं करते हैं और न किसीकी प्रेरणासे वा बहकानेसे करते हैं विसे उत्तम मनुष्य इस संसारमें बहुत थोड़े हैं। और ऐसे मनुष्य तीनों लोकोंमें सत्तकके मुकुटमें लगे हुए रूपके समान सर्वोल्कृष्ट गिने जाते हैं।

आगे मांस खानेवालेकेलिये कहते हैं।

〈परमांसैः स्वमांसस्य ये विद्ध्युः प्रवर्द्धनम् ।

तेषां मांसैः परेभ्योपि तुम्हि मन्ये। भवेभवे । १०।५॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्य जीवोंके मांभसे अपने मांसको बढ़ाते हैं उनके मांससे जन्म जन्ममें दूसरे लोग तृप्त होंगे ऐसा हम मानते हैं।

भावार्थ—जो जीव इस भवमें प्रबल होता है और अन्य निर्बल जीवोंको नारकर उनका मांस खाता है वह जीव उस पाप कर्मके उद्यसे भवभवमें निर्बल जीव होता है और फिर भवभवमें अन्य प्राणी मार कर उसे खाया करते हैं। इसलिये यदि परभवमें ऐसे महादुखोंसे बचना है और इंद्रादि के अनुपम सुख भोगना है तो अनेक मनुष्यको इस अपविश्र मांससे अलग रहना चाहिये।

आगे हिंसा न करनेकेलिये और भी हेतु कहते हैं।

वृद्ध्ये स्युः प्रदत्तानि निधनानि अनानि वा ।

मत्वेति बुद्धिमान् दत्ते व्यथास्थापनं न देहिनाम् ॥ २० ॥

अर्थ—यदि इस जन्ममें किसीको धन दिया जाय तो वह अगले जन्ममें बढ़ कर मिलता है। इसी प्रकार यदि इस जन्ममें किसीका नाश किया जाय तो वह नाश भी बढ़कर ही मिलता है। यही समझकर बुद्धिमान् मनुष्योंको कभी प्राणियोंका घात नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार धनका दानदेनेमें धनकी वृद्धि होती है उसी प्रकार हम जिस जीवको एक बार मारेंगे वह जीव जन्म जन्मान्तरमें अनेक बार हमें भी मारेगा। जिसकी हमने एकवार हिंसा की है वह हमारी

अन्तेर कार दिंसा करेगा । यही समझकर बुद्धिमानोंको किसी जीवकी दिशा नहीं करनी चाहिये । ज्ञातक वजे, सबको सुख पहुँचानेकी हजार रत्नी चाहिये ।

आगे मद्य मांस मधुके त्याग करनेकेलिये कहते हैं ।

मांसमध्यमधुप्रायं यदि धर्माय सम्मतम् ।

साधनं तर्हि पापस्य हाँ नास्तीह मृतले ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि मद्य मांस और मधुका सेवन करना भी धार्मिक कार्य समझा जाए तो फिर दुखके साथ कहना पढ़ता है कि पापका कोई कारण ही नहीं रहेगा ।

भावार्थ—मद्य मांस मधु इन तीनों का सेवन करना पापका कारण है । किंदि महापापके कारणोंको भी धार्मिक कार्य मान लिया जाए तो फिर पापके कारण किसको माना जायगा । फिर तो पापके कारण संसारमें कोई खेता हो नहीं । इसलिये देवताओंपर बलि देना, मद्य चढ़ाना और मधु वा शहतको पवित्र मानकर अमरमें लाना सब पाप हैं । इनके सेवन करनेके कभी पुण्यकरी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

आगे हिसाके त्यागकेलिये और भी हेतु बतलाते हैं ।

मृत्योर्भीतिर्था स्वस्य परस्यापि तथा गुवाह ।

मत्वेति नियतं हिस्त त्रृतः परिहाप्यताव् ॥ २३ ॥

अर्थ—संसारमें हम कोगोंको सबसे अधिक उस मृत्युसे लाता है । जिस प्रकार मृत्युसे डर हमें लगता है उसी प्रकार अन्य जीवोंको अवश्य लाता है । यही समझकर अन्य जीवोंकी हिस्त दूरसे ही छोड़ देनी चाहिये ।

भावार्थ—यह बतलाने को अपवाहनकर्ता नहीं है कि मरनेके डर सबको लगता है । हल्ले अनेक उदाहरण हैं और नेत्र उदाहरण ही लोग प्रति देवते हैं । जो जीव जिस वेगिने का जिस शक्तिमें उत्तम होता है वह उसी योगि वा उसी व्यक्तिमें रम जाता है—वह उसीको अच्छा मानने लगता है ।

यह जीव चाहे कितना ही दुःखी बर्थों न हो परन्तु तो भी मरना नहीं चाहता । एक ही बारमें अनेक प्रकारके रोग अनेक प्रकारके दुःख और वेदनाएं सहन करना पसंद कर लेता है परंतु ऐसी अवस्थामें भी मरना नहीं चाहता । दूसरी बात यह है कि मरनेमें सबसे अधिक दुःख होता है । और शरीरको छोड़नेमें सबसे अधिक वेदना होती है इसीलिये अत्यंत दुःखी जीवोंको उनके दुःख दूर करनेकेलिये भी मरना महापाप है । सर्व विच्छू आदि घातक जीव भी मरनेसे उत्तेहैं । वे स्वयं छिपते किरते हैं । इतनेपर भी यदि वे किसी तरह दब जाय तो केवल अपने बचनेके अभिप्रायसे काटते हैं । अपने बचनेकेलिये न तो वे कह सकते हैं और न उनके पास अन्य कोई उपाय है । इतने पर भी दुष्ट लोग उन्हें मार देते हैं । कोई कोई महाजूष तो विना काटेयों ही देखते ही मार देते हैं । वास्तवमें यह उनकी बड़ी भारी अज्ञानता और मूर्खता है । इसलिये सभ्य गृहस्थोंको उचित है कि वे कभी किसी जीवको न मारें, कभी किसी जीवको न सतावें और न कभी किसी जीवको किसी प्रकारका दुःख दें ।

मांस मद्य और उदुंबरोंके सेवनमें शास्त्रोंमें इस प्रकार दोष बतलाये हैं ।

मांसादिषु दशा नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।

धर्मं धावो न मत्येषु सवोदुंबरस्तेविषु ॥

अर्थ——मांस भक्षण करनेवालेके कभी दशा नहीं हो सकती । मद्यपान करनेवालेके कभी सत्यका पालन नहीं हो सकता । और सब प्रकारके उदुंबर फलोंके भक्षण करनेवाले मनुष्यके कभी धर्म धारण करनेके भाव नहीं हो सकते ।

भावार्थ——मांस भक्षण करनेवालेके परिणाम स्वभावसे ही त्रूप हो जाते हैं । प्रथम तो उन्हें मांसकेलिये जीवोंका वध करना पड़ता है । यदि कदाचित् उन्हें वह वध अपने हाथमें न करना पड़े तो भी उनके

परिणाम कूर अवश्य हो जाते हैं। भोजनका असर बुद्धिपर अवश्य पड़ता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको सदा शुद्ध भोजन करना चाहिये। मांसका तो सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिये। दयारूप परिणाम सदा अन्नाहारसे ही हो सकता है। मांस भक्षणसे ज्ञानी नहीं हो सकता। इसी प्रकार मध्यपान करनेवाला मनुष्य कभी सत्त्व नहीं बोल सकता। प्रथम तो वह बेसुध ही हो जाता है और उस अवस्थामें वह मन मानी निःसार बातें बका करता है। यदि वह होशमें भी हो तो भी मध्यके प्रभावसे उसका आत्मा मलिन हो जाता है। और मलिन परिणाम उस आत्माको सत्यसे हटा देते हैं। जिस प्रकार वह मध्यपान करनेमें किसी प्रकारकी म्लानि नहीं समझता उसी प्रकार मिथ्या भाषण करनेमें भी वह पाप नहीं समझता। और इसलिये ही वह फैर सदा मिथ्या भाषण ही करता रहता है। उदुंबर फलोंके भक्षण करनेमें भी असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है। एक एक उदुंबर फलमें प्रानेवाले दिखते हुए अडे जीवों की संख्या असंख्यात होती हैं। उन फलोंको खानेवाले उनको सावृत ही खा जाते हैं। इस प्रकारके एक ही फलके खानेमें वे असंख्यात जीवोंका घात करते हैं—असंख्यात जीवोंका मांस खा जाते हैं—और इस प्रकार महा पापका उपार्जन करते हैं। कदाचित् कोई प्राणी उन फलोंमेंसे उन जीवोंको उड़ाकर खावे तो भी उड़ाने या निकालनेके बाद भी उन में हजारों अडे बचे रह जाते हैं जो कि उनमेंसे निकल ही नहीं सकते। इसलिये उनके शोधकर खानेमें भी वह हिंसा और मांससे बच नहीं सकता। अतएव उदुंबर फल खानेवालोंके कभी दयाधर्मका पालन नहीं हो सकता। इसलिये दयाधर्म पालन करनेकेलिये इन उदुंबर फलोंका सर्वथा त्याग कर देना ही उचित है।

आगे फिर भी दयाको ही धर्म सिद्ध करते हैं।

धेनुस्त्रीब्रह्मवालानां धर्मो यद्यस्त्यहिमने ।

तदा हि परमोधर्मः सर्वसावदयावताम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि गाय, श्री, ब्राह्मण और बालकोंके न मारनेमें धर्म समझा जाता है तो फिर सप्त जीवोंपर दया करना परम धर्म ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—यदि जीवोंके मारनेमें पाप नहीं है तो फिर गायके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये, श्रीकि मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये, ब्राह्मणोंके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये और बालकोंके मारनेमें भी पाप नहीं होना चाहिये । परंतु इन जीवोंके मारनेमें पाप अवश्य समझा गया है । यदि इन जीवोंके मारनेमें पाप है तो सब जीवोंके मारनेमें भी पाप है । यदि इन जीवोंकी रक्षा करनेमें पुण्य है तो फिर सप्त जीवोंकी रक्षा करनेमें भी अवश्य पुण्य है । इस प्रकार सिद्ध होता है कि सप्त जीवोंकी दया पालन करना ही परम धर्म है । दयाके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता ।

आगे फिर भी हिंसाका त्याग करनेके लिये कहते हैं ।

सर्वे सर्वैः समं प्राप्ताः संबंधा नहिभिर्यतः ।

संबंधिनो निहन्यन्ते ततस्तान् हिस्ता ध्रुवम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस संसारमें सब प्राणियोंको सब संबंध एकसे प्राप्त हुए हैं इसलिये जो मनुष्य उन प्राणियों की हिंसा करता है वह उनके संबंधियों की हिंसा भी करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी मनुष्यके मर जानेपर उसके सब कुटुंबियोंको दुःख होता है उसी प्रकार जिस प्राणीको शिकारी या कसाई लोग मारते हैं उसके साथ रहने वालोंवर्त भी अवश्य दुःख होता है । जिस प्रकार पुत्रके मरजानेपर मावापको दुःख होता है उसी प्रकार उस प्राणीके मारदेनेपर उसके मावापको भी अवश्य दुःख होता है । इस प्रकार एक जीवकी हिंसासे अनेक जीवोंकी हिंसा हो जाती है । इसलिये किसी प्राणीकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए ।

आगे हिंसकोंके सब पुण्यकार्य ल्यर्थ हैं ऐसा दिनलाने हैं ।

ब्रतं शीलं तपो दानं यज्ञित्वं नियमो विधिः ।

सर्वेषि निष्फला यान्ति हिंसासंरभवतिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य हिंसा करनेका उपक्रम किया करते हैं हिंसा करनेका विचार किया करते हैं उनके ब्रत शील तप दान महाब्रत, नियम विधान आदि समस्त पुण्य कार्य निष्फल हो जाते हैं ।)

भावार्थ—ब्रत शील तप दान संयम आदि कार्य सब जीवोंकी रक्षाकेलिये किये जाते हैं । परंतु जो मनुष्य हिंसाके विचार भी किया करता है और ब्रत शील आदि यम नियमोंका भी पालन किया करता है उसके ब्रत शील आदि सब व्यर्थ समझना चाहिये । क्योंकि हिंसा करनेका विचार करनेवालेके जीवोंकी रक्षा हो ही नहीं सकती । इसलिये हिंसा करना तो दूर रहा हिंसा करनेहोता उपक्रम भी कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे हिंसा करनेवाले पाणीर्ह आत्माकी भी हिंसा होती है ऐसा दिखलाते हैं ।

• देहिहिंसात्मनो हिंसा दणा तस्यात्मनो दया ।

वध्यहंत्रोस्ततो नास्ति किंशेषः परमार्थतः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता है उसके आत्माकी हिंसा सबसे पहले होती है । तथा जो मनुष्य अन्य प्राणियों पर दया करता है उसकी आत्मापर सभ्ये पहिले दया होती है । इस प्रकार जिस जीवकी हिंसा की जाती है और जो जीव हिंसा करता है उन दोनोंमें वास्तविक रीतिसे कुल भी अंतर नहीं है ।

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपके बात करनेको हिंसा कहते हैं इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि क्रोध मान माया लोभ मोह मद मत्सर आदि आत्माके विचार उत्पन्न होनेको हिंसा कहते हैं आत्मामें जब विचार उत्पन्न होते हैं उस समय आत्माका शुद्ध स्वभाव अवश्य नष्ट हो जाता है । तथा किसी प्राणीकी हिंसा करनेके पहिले अथवा उस हिंसाका विचार करनेज्ञ पहिले क्रोधादिक विचार अवश्य

उत्पन्न होते हैं। विना क्रोधादिक विकारोंके उत्पन्न हुए हिंसा या हिंसाके विचार हो ही नहीं सकते। इसलिये हिंसा करनेवालेके आत्माका घात उस हिंस्य जीवके घातके पहले हो जाता है और इस प्रकार हिंसा करनेवालेकी ही हिंसा पहले हो जाती है। उसी हिंसाके फल स्वरूप वह प्राणी उस हिंस्य जीवकी हिंसा न कर सकनेपर भी नरक निगोदके दुःख अवश्य भोगता है। क्योंकि हिंसा करनेके विचार करते समय ही उसके अशुभ कर्मोंका बंध हो जाता है। इसलिये हिंसा करनेके विचार तक भी कभी नहीं करना चाहिये।

आगे फिर भी हिंसाका फल दिखलाते हैं।

सदा मांदं सदा दैन्यं सदा दौस्थ्यं सदा भयम् ।

भवे भवे भवेत्स्य येन हिंसा समाश्रिता ॥ २७ ॥

अर्थ— जो मनुष्य हिंसा करता है उसको भव भवमें सदा दीनता और दरिद्रता बनी रहती है। वह भव भवमें सदा दुःखी रहता है। उसे भव भवमें सदा अनेक प्रकारके भय बने रहते हैं। और वह भव भवमें सदा रोगी मूर्ख व अभाग्यशाली बना रहता है।

भावार्थ— हिंसा करनेवाला अनेक जन्मों तक सदा दुःखी ही रहता है। हिंसक जीव कभी सुखी नहीं रह सकता।

आगे मधु वा शहतके दोष बतलाते हैं।

बहुधा सत्वसंताननिष्पत्तिमलमंदिरम् ।

सर्वापवित्रवस्त्रनां रसमादाय निर्मितम् ॥ २८ ॥

निष्पलाद्वित्रसत्रात्समर्दनरसोद्धृतम् ।

त्रससत्त्वाननोद्वान्तं निन्द्याक्षिद्यतरं मधु ॥ २९ ॥

अर्थ— मधु प्रायः अनेक मक्कियोंके अंडे बच्चोंसे उत्पन्न हुए मलका घर है, सब तरहके अपवित्र पदार्थोंके रसको ग्रहण कर बनाया जाता है। लग भग आधी मक्कियोंके निचोड़नेसे छुये रससे बनता है और त्रस पर्यायको धारण करनेवालीं मक्कियोंके सूक्ष्म उगला भुआ रस है। इस-

प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि मधु अत्यंत निंद्य पदार्थोंसे भी अधिक निंद्य है।

भावार्थ—यदि विचार कर इखा जाय तो शहत अत्यंत निंद्य पदार्थ है। मक्खियाँ फूलोंका रस ग्रहण करती हैं तथा अन्य अपवित्र पदार्थोंके रसको भी ग्रहण करती हैं। वह सब रस उनके पेटमें पकता रहता है। पाक होते होते वह शहतके रूपमें परिणत हो जाता है। जिस प्रकार गिलोय नींबू आदि पदार्थोंका सत निकाला जाता है उसी प्रकार यदि उन फूलोंके रसका सत निकाला जाय तो वह कभी शहत नहीं बन सकता। शहत तो मश्योंके उदरसे ही पक कर बनता है। पकने और शहत रूपमें परिणत हो जानेके बाद मक्खियाँ उसे मुंहके रास्ते बाहर उगलती हैं। वही शहत कहलाता है। इस प्रकार प्रथम तो वह मक्खियोंके पेटकी उगलन होनेके कारण अपवित्र है। दूसरे जिस जिस पदार्थका पाक पेटमें होता है और किर वह पदार्थ बाहर निकलता है उसमें विषाके समान या वमन किये हुए पदार्थके समान अनेक जीवोंके उत्पन्न होनेकी शक्ति हो जाती है और फिर प्रत्येक समयमें उसमें अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं तथा मरते भी रहते हैं। इस प्रकारसे भी शहत अत्यंत अपवित्र है तथा उसके सेवन करनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है। इसके सिवाय शहत निकालनेवाले बड़े बड़े छत्तोंसे मक्खियोंको उड़ा देते हैं और फिर उन छलोंको निचोड़कर शहत निकालते हैं। ऐसा करनेसे असंख्यात मक्खियोंको दुःख होता है। उनका खाने पीनेकी सामग्रीसे भरा हुआ घर छूट जाता है जिससे उन्हें बहुत ही दुःख और संताप होता है। दूसरे यद्यपि उन छत्तोंमेंसे बड़ी बड़ी मक्खियाँ उड़ जाती हैं तथापि अनेक अंडे बचे उनके भीतर रह ही जाते हैं। उन छत्तोंके निचोड़ते समय उन सब अंडे बच्चोंका अर्क उस शहतमें आ जाता है। उन अंडे बच्चोंके शरीरमें रुधिर मांस होता ही है इसलिये उस शहतमें रुधिर मांसका अर्क भी आता है। तथा जिस

पदार्थमें रुधिर मांसका अर्क रहता है वह रुधिर मांसके समान ही अपवित्र होता है और उसमें रुधिर मांसके समान ही क्षण क्षणमें असंख्य जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। इस प्रकार भी शहत किसी भी प्रकार सेवन करने योग्य नहीं है। वह रुधिर मांसके समान ही अत्यंत नियंत्र पदार्थ है।

आगे शहतके खानेमें और भी भागी पाप बतलाते हैं।

(मधुविन्दुलबास्वादाद्ये सत्वाः यविदारिताः ।

पल्लीदाहेपि तावन्तो भवन्ति न भवन्ति वा ॥ ३० ॥

अर्थ—शहतकी एक बूँदके एक भागको खानेमें भी जितने जीवोंकी हिंसा होती है उतने जीवोंकी हिंसा एक गांवके जलानेमें भी हो अथवा न भी हो।)

भावार्थ—एक गांवके जलानेमें असंख्यात जीवोंकी हिंसा होती है इसीलिये किसी गांवका जलाना भया पाप समझा जाता है। परंतु शहतकी एक बूँदके एक छोटेसे टुकडेके खालेनेमें उससे भी अधिक जीवोंकी हिंसा होती है। इसलिये उस अणुमात्र शहतके खानेमें भी महापाप होता है। अतएव महापापोंसे बचनेके लिये शहतका परित्याग दूरसे ही कर देना चाहिये।

आगे शहतके और भी दोष दिखलते हैं।

भिलस्थालीप्यनेध्यासु लिपासुः रुधिरामिषः ।

सर्वत्र संस्थितं पूर्वं पवित्रं हंत चो मधु ॥ ३१ ॥

अर्थ—प्रायः शहतको भील लोग हो लाते हैं। वे अपने वर्तनोंमें रखते हैं तथा उनके वर्तन रुधिर मांससे रुने रहते हैं। उन्हीं वर्तनोंमें वह शहत रखा जाता है। इस प्रकार सब जगह अपवित्र पदार्थोंमें रखा हुवा शहत कभी पवित्र नहीं हो सकता।

भावार्थ—भील लोग मांसाहारी होते हैं। जिन वर्तनोंमें वे रुधिर मांस रखते हैं उन्हीं वर्तनोंमें विजा धोये साफ किये शहत

लाकरख देते हैं। इस प्रकार भी शहत महा अपवित्र और सर्वथा त्याग करने योग्य है वास्तवमें देखा जाय। तो वह भी मांसादिके ही समान है इसलिये बुद्धिमान मनुष्योंको शहतका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। *

आगे औषधिके लिये भी शहतका निषेध करते हैं।

नौपधेपि मधु स्वाद्य पुर्सा धर्मसुपेयुषा ।

देहार्थे न विनाश्योदयं यहो धर्मः सनातनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धारण करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंको औषधियोंमें भी शहतका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस शरीरके लिये किसी प्राणीका घात कभी नहीं करना चाहिये—यही अनादि कालसे चला आया धर्म है।

भावार्थ—यह धर्म अनादि कालसे चला आ रहा है और इस वर्तमान कालमें भी विद्यमान है कि अपने शरीरके लिये किसी भी प्राणीका घात नहीं करना चाहिये। फिर शहतकी एक बूद्दके एक छोटे टुकड़ेमें तो असंख्यात जीवोंका घल होता है। ऐसी अवस्थामें अपने

* लिखा भी है—

मक्षिकागर्भसंभृतबालाण्डननिपीडतात् ।

जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥

अर्थ—यह शहत मक्षियोंके गर्भसे (पेटसे) निकलता है अनेक अंडे बच्चोंके निचोड़नेसे उत्तर होता है और इसीलिये वह गर्भसे निकले हुए जगके समान महा अपोवेत्र है। अतएव सज्जन लोग उसे किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं कर सकते।

भावार्थ—कोई कोई मनुष्य। शहत को परम पवित्र मानते हैं। परंतु यदि शहतकी उत्पत्ति आदि पर किंचार किया जाता है तो मालूम होता है कि शहत स्पर्श करने योग्य भी योग्य नहीं है। फिर उसका खाना तो बहुत दूर रहा। इसलिये दयालु गृहस्थोंको शहत कभी किसी काममें नहीं लाना चाहिये।

शरीरके लिये इतने जीवोंका खात करना सर्वथा अनुचित और अयोग्य है। इसलिये घर्मत्मा पुरुषोंको और धिकेलिये भी शट्ट काममें नहीं लाना चाहिये। उसका खाना तो दूर रहा उसके स्पर्श करने तकका त्याग कर देना चाहिये।

आगे—उदुंबर फलोंके खानेमें दोष दिखलाते हैं।

सर्वोदुम्बरमध्यस्था दृश्यन्ते । विविधाख्वसाः ।

तथैव बहुशस्त्र स्थावराः समयोदिताः ॥ ३३ ॥

अर्थ—संसारमें जितने उदुंबर फल हैं उन सबके भीतर अनेक त्रस जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। तथा उनमें अनंत ही स्थावर जीव होते हैं ऐसा शास्त्रोंमें प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—पीपरफल, बरगद) बड़के फल) गूँज, अंजीर और पाकर फल इनको उदुंबर फल कहते हैं। इनमें प्रत्यक्ष अनेक त्रस जीव दिखलाई देते हैं जो तोड़नेसे उड़ भी जाते हैं। बहुतसे लोग उन फलोंको साबूत खा जाते हैं जिससे उन्हें असंख्यात जीवोंके मारनेका और उनके मांस खानेका महापाप लगता है। यदि उन फलोंको तोड़कर उन जीवोंको उड़ाकर भी खाया जाय तो भी केवल बड़े बड़े जीव उड़ जायगे, छोटे छोटे अंडे बच्चे अनेक त्रस जीव तो उनमें रह ही जाते हैं। इसलिये इस प्रकार खानेमें भी अनेक जीवोंके मार्ह और उनके मांस खानेका महापाप लगता ही है। इसके सिवाय उनमें अनंत स्थावर जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। उनकी हिंसाका महापाप भी उन खानेवालोंको अवश्य लगता है। इस प्रकार उदुंबर फलोंका खाना महापापका कारण है। दयालु गृहस्थोंको कभी उनका भक्षण नहीं करना चाहिये। सदाकेलिये उनका सर्वथा त्याग कर रखा चाहिये^१।

१—लिखा भी है—

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधार्दिफलेष्वपि ।

आगे मद्यमांस खानेवालोंके पात्रोंमें तथा उनके साथ भोजन पानका निषेध करते हैं।

मद्यादिस्वाद्यमत्रेषु पानमन्मः तु नाश्रेत् ।

दूरतो हि विधातव्यस्तत्सम्बन्धोशनादिषु ॥ ३४ ॥

अर्थ— मद्य मांसका भक्षण करनेवाले गृहस्थोंके वर्तनोंमें कभी अन्न पानी अहण नहीं करना चाहिये। तथा भोजन पान करते समय उनका संबंध दूर ही रखना चाहिये।

आगे चमडेके पात्रोंका और पञ्जवानका निषेध करते हैं।

दतिप्रायेषु पात्रेषु तोयं ऋहं तु नाश्रयेत् ।

नवनीतं न धर्तव्यमूर्ध्वं त्रु प्रहराद्वतः ॥ ३५ ॥

अर्थ— चमडेके वर्तनोंमें पानी वा घी तेल आदि पदार्थ कभी नहीं रखना चाहिये। तथा आधे पहरसे ऊपर मक्खनको कभी नहीं रखना चाहिये।

51

२३८/१०२

प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥

अर्थ— पीपल, अंजीर, पाकर, गूँज, वरगद आदि फलोंमें अनेक स्थूल जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, और सूक्ष्म जीव भी आगमके अनुसार जाने जाते हैं।

भावार्थ— जब मद्य मांस मधु अथव अपवित्र पदार्थ हैं—और इतने अपवित्र हैं कि स्पर्श करने योग्य भी नहीं हैं तब फिर जिन वर्तनोंमें वे रखें जाते हैं वे वर्तन भी अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं और वे भोजन करने वा पानी पीने योग्य नहीं छूते। इसलिये जो लोग मांसादिक का सेवन करते हैं उनके वर्तनोंमें कभी भोजन पान नहीं करना चाहिये। तथा ऐसे लोगोंके पास बैठकर भी भोजन पान नहीं करना चाहिये। भोजन पान करते समय ऐसे लोगोंका संबंध किसी प्रकार भी नहीं रखना चाहिये। उनसे बहुत अलग होकर भोजन पान करना चाहिये।

भावार्थ- चमड़ा, अत्यंत अपवित्र। पदार्थ है इसलिये उसमें रक्खें हुए पानी भी तेल आदि पदार्थ भी अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं। अतएव ऐसे पदार्थोंका ग्रहण कभी नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार आधे पहरके ऊपर मक्खनमें अनेक जीव उत्तम हो जाते हैं। इसलिये आधे पहरसे ऊपर मक्खनको कभी रखना ही नहीं चाहिये। आधे पहरसे पहिले उसको गरम कर दी बना लेना चाहिये। **ऐति प्रदृष्टि - स्ताट्ट्य-टृट्टि**

आगे व्यसनोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं।

दूत मांसं सुरा वेश्या पापाद्विः परदारता ।

स्तेयेन सह सशेति व्यसनाने विद्वरयेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ— दूत (जूआ खेलना) मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, परस्ती और चोरी ये सात व्यसन कहलाते हैं। सम्यग्टष्टीको इन सातों का त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ जूआ खेलना सबसे बड़ा पाप है। जूआ खेलनेवाला जब हार जाता है तब चोरी करता है। जब जीत जाता है या चोरीमें धन मिल जाता है तब उस धनसे मद्य पाक करता है। मद्यके नशेमें आकर वेश्या सेवन करता है, मांस खाता है, परस्ती सेवन करता है और शिकार खेलता है। इस प्रकार एक जूआके खेलनेसे सब व्यसन और सब दोष अपने आप आ जाते हैं। जूआ खेलनेका पड़ा हुआ अभ्यास बड़ी कठिनतासे छूटता है। इसलिये जूआ खेलने का अभ्यास कभी नहीं करना चाहिये। जहाँ जूआ हो तो वहाँ केवलनेकेलिये भी खड़ा नहीं होना चाहिये। क्योंकि देखते देखते संभव है कि उसका मन चल जाय और वह जूआ खेलने ला जाय। इसलिये जूआका खेल देखना भी पापका कारण है। इसी प्रकार वेश्यासेवन, परस्ती सेवन, चोरी करना पापका कारण है। शिकार खेलना भी महापापका कारण है क्योंकि शिकार खेलनेमें जान बूझ कर निरपराध जीव मारे जाते हैं जिनके मारनेमें महा हिंसा

और महा पाप होता है। इस लिये इन सातों व्यसनोंका त्याग कर देना चाहिये।

आगे बतलाते हैं कि यद्यपि अन्न भी प्राणियोंके शरीरसे उत्पन्न होता है और मांस भी प्राणियोंके शरीरसे उत्पन्न होता है तथापि अन्न ग्राह्य है; मांस ग्राह्य नहीं है।

धूत्वादीनां पथः पेयं न मूलादि स्वभावतः ।

विषापहमहेरत्नं विषं तु मृत्युसाधनम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विष भी सर्पसे उत्पन्न होता है और रत्न भी सर्पसे उत्पन्न होता है परंतु विष मृत्युका कारण है और रत्न उस विषको दूर करनेवाला है। उसी प्रकार गाय आदिका दूध तो पीने योग्य है परंतु मूत्र आदि पीने योग्य नहीं है। यह पदार्थोंका स्वभाव ही ऐसा है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थका स्वभाव अलग अलग होता है और जिस पदार्थका जैसा स्वभाव है वह कैसा ही रहता है। स्वभाव किसीका बदलता नहीं है। रत्न और विष दोनों ही सर्पसे उत्पन्न होते हैं परंतु रत्नका स्वभाव विषको दूर करनेवाला है और विषका स्वभाव मृत्युका कारण है। यद्यपि दोनों एक योनिसे उत्पन्न होते हैं तथापि दोनोंका स्वभाव अलग अलग है। इसी प्रकार गायका दूध पवित्र है—ग्रहण करने योग्य है परंतु गायका मूत्र ग्रहण करने योग्य नहीं है—वह स्वभावसे पवित्र नहीं है; दूध ही स्वभावसे पवित्र है। इसलिये दूध ही ग्रहण करने योग्य है; मूत्र ग्रहण करने योग्य नहीं है।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

प्रयः पेयं पलं हेयं समे सत्यपि साधने ।

विषद्रोहायुषे पञ्च मूलं तु मृक्ये मतम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विषबृक्षके फूले तो आयु बढ़ानेवाले होते हैं परंतु उसी बृक्षकी जड़ आयुको नाश करनेवाली होती है। इसी प्रकार दूध और मांस एक ही शरीरसे उत्पन्न होते हैं तथापि दोनोंका स्वभाव

अलग अलग हैं—दूध पवित्र है इसलिये ग्रहण करने योग्य है परंतु मांस
अपवित्र है इसलिये वह ग्रहण करने योग्य नहीं है ।

आगे और भी इसी बातको दिखलाते हैं ।

शरीरावयवत्वेषि मांसे दोषो न सर्पिषि ।

धंनुदेहस्तुतं मूत्रं न पुनः पथसा समस् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यद्यपि मांस और धी दोनों ही शरीरके अवयव हैं तथापि
मांसमें दोष है; धीमें दोष नहीं है। गांगके शरीरसे मूत्र भी निकलता
है और दूध भी निकलता है परंतु मूत्र दूधके समान नहीं हो सकता ।

भावार्थ—जिस प्रकार एक शरीरमें उत्पन्न होते हुए भी मूत्र दू-
धके समान नहीं हो सकता । दूध अपेक्षा स्वभावसे ही पवित्र है और
मूत्र अपने स्वभावसे मलिन ही है । उसी प्रकार एक शरीरसे उत्पन्न होते
हुए भी मांस और धी दोनों समान नहीं हो सकते । धी पवित्र है और
ग्रहण करने योग्य है तथा मांस अपवित्र है और सदाकेलिये त्याग करने
योग्य है ।

आगे धर्म समझ कर हिंसा करना वा मांस खाना बुरा है ऐसा दि-
खलाते हैं ।

यस्तु मांसादिलौल्येन धर्म धर्मेति भाषिते ।

मांसास्वादाद्विधेष्वसात्स स्यात्गापद्वयाश्रयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य मांसके सेवन करनेमें अत्यंत लोलुप्ती होकर
धर्म कहता हुआ मांसका सेवन करता है वह अपने शुभ कर्मोंको नष्ट
करता है और इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें पाप कर्मोंका संग्रह क-
रता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार राजा सुरसेन मांस खानेकी लोलुपतासे
तंदुल मत्स्य हुआ था और वहांसे मरकर सातवें नरक पहुंचा था उसी
प्रकार मांस खानेकी लोलुपतासे अनेक जर्मोंतक नरक निगोदादिके दुःख
भोगना पड़ता है ।

पापी हास्यं लभेतासौ मांसलौलयेन धर्मधीः ।

परदारं विधातेव मात्रा; पाद्मं नराधमः ॥ ४१ ॥

अर्थ— जिस प्रकार परम्मी सेवन करनेवाला कोई नीच मनुष्य यदि अपनी माताके साथ व्यभिचार संबंध करे तो वह हसीका पात्र होता है उसी प्रकार जो पापी वर्म समझकर मांस खानेकी लोलुपता करता है वह नीच मनुष्य भी हसीका पात्र होता है ।

भावार्थ— परम्मी सेवन करना महापाप है । परंतु जो परम्मी सेवन करनेवाला पापी अपनी माताके साथ व्यभिचार सेवन करता है वह महापापी तो होता ही है परंतु सध्यमें ऐसे मनुष्यकी सब कोई हसी करता है । इसी प्रकार मांस खानेमें महापाप तो है ही परंतु जो मांस खानेवाला धर्म समझकर मांस खाता है या मांस खानेकी लालसा करता है वह महापापी भी होता है और सब संसार उसकी हसी करता है । धर्म और पाप ढोनों विरोधी हैं । जहाँ धर्म होगा वहाँ पाप नहीं होगा और जहाँ पाप होगा वहाँ धर्म नहीं होगा । इसलिये मांस भक्षणसे कर्मी धर्म नहीं हो सकता और न कभी किसीको धर्म समझकर मांस भक्षण करनेकी लोलुपता करनी चाहिये ।

/आगे अणुवतोंको कहते हैं ।

हिंसास्तेयानृतात्रह्यधनादानां निवृत्तयः ।

स्वल्पानीन्द्रियमानानि द्वितानि ब्रतमेधिनाम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—हिंसा अटु चोरीं कुछील और परिश्रह इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग कर देना और द्विदेवोंका प्रमाण कर लेना ब्रतियोंके लिये ब्रत कहलाते हैं ।

भावार्थ—अणुवत पांच हैं । ज्ञानमेंसे संकल्प पूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसा का त्याग कर देना अहिंसा अणुवत है । स्थूल झूटके बोलनेका त्याग कर देना सत्याणुवत है । स्कृती हुई पहों हुई मूली हुई किसी की चीजको नहीं लेना स्थूल चोरीका त्याग कर देना अबौद्याणुवत है । अपनी स्त्रीमें

सन्तोष रखकर अन्य समस्त मिथ्यों को मात्रा वहिनके समान देखना ब्रह्मचर्यणुव्रत है। और अपनी शक्तिके अनुसार परिग्रहका परिणाम कर लेना परिग्रहपरिमाणणुव्रत है। इस प्रकार अणुवृत धारण करनेसे इंद्रियोंका परिमाण हो जाता है इसीलिये ये पांचों ही व्रत कहलाते हैं।

आगे अहिंसा अणुव्रतको दिखलाते हैं।

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितदायिनी ।

दुर्लभा सेव संसारमरायमृतसिद्धूप्रत् ॥ ४३ ॥

अर्थ—किसी जीवको किसी प्रकारका दुःख ने देना—सबको सुख पहुंचाने की इच्छा रखना अहिंसा है। यह अहिंसा समस्त जीवोंको माताके समान हित करनेवाली है। परंतु इस संसाररूपी मरुस्थलमें अमृत-सागरके समान यह अहिंसा अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ—जिस प्रकार मारवाडमें वहाँपर सब ओर बालू ही बालू दिखाई देती है वहाँपर अमृतसे भरे हुए महासागरका होना अत्यंत दुर्लभ है। मरुस्थलमें पानीका मिलना ही अत्यंत अठिन है। फिर अमृतके समुद्रका होना अत्यंत ही दुर्लभ है। उसी प्रकार इस संसारमें अहिंसा धर्मकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। अत्यंत शुभ कर्मोंके उदयसे और प्रबल मोहनीय कर्मोंके शांत होनेसे या मंद होनेसे अहिंसा धर्मकी प्राप्ति होती है। इसीलिये अहिंसा धर्मको धारण करनेवाला संयोग प्राप्त होनेपर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। यह मनुष्यजन्म बार बार प्राप्त नहीं होता है। अतएव मनुष्य जन्म पाकर अहिंसा धर्म अवश्य धारण करना चाहिये। जिस प्रकार माता अपने पुत्रका हित सदा चाहती रहती है उसी प्रकार यह अहिंसा जीवोंका सदा कल्याण करती रहती है।

यह प्राणी अहिंसा धर्म धारण करके हो इस संसारसे पार हो सकता है। इसीलिये यह अहिंसा सब जीवोंका कल्याण करनेवाली है। जो अहिंसा धर्म धारण करते हैं उनका भी कल्याण होता है और वे कि-सीको दुःख नहीं देते या उनसे किसीको भी दुःख नहीं पहुंचता। इसी-

लिये उसी अहिंसासे सब जीवोंको। सुख पहुंचता है। इस प्रकार अहिंसा धर्म सबको सुख देनेवाला है इससे इस लोकमें भी सुख मिलता है और परलोकमें भी सुख मिलता है। इसलिये सुख चाहनेवाले तथा आत्मकल्याण करनेवाले जीवोंको यह अहिंसा ब्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे अहिंसा ब्रतसे लाभ कालाते हैं।

यो भृतेष्वभयं दद्याद् भृत्यस्तस्य नो भयम् ।

यादृशं दीयते दानं तादृशं लभ्यते फलम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य समस्त जीवोंको अभयदान देता है उसे किसी भी प्राणीसे किसी प्रकारका भय नहीं होता है। सो ठीक ही है। क्योंकि जो जैसा दान देता है उसे वैसा उत्तीर्ण फल मिलता है।

भावार्थ—जो जितनी अहिंसा पालता है वह उनना ही सुखी होता है तथा उससे अन्य जीव भी उतने ही सुखी होते हैं। मुनिराज परम अहिंसा पालन करते हैं इसीलिये वे स्वयं परम सुखी होते हैं और उनसे समस्त जीव सुखी रहते हैं। यहांतक कि वनके सिंह हरिण आदि जातिविरोधी जीव भी अपना विरोध छोड़कर सब एक साथ उनके पास आ बैठते हैं।

आगे प्रकारान्तरसे अहिंसाणुज्ञतका लक्षण कहते हैं।

देवतातिथिपित्यर्थं मंत्रौगधभयाय वा ।

न हिस्यादेहिनः सर्वानहिंसा नाम तद्गतम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो किसी देवताके लिये अतिथि वा घरमें आए अभ्यागत वा पाहुनेके लिये, पिता पितामह आदि पूर्व पुरुषाओंके लिये, किसी मंत्रकी सिद्धिकेलिये, कोई औषध खनानेकेलिये अथवा किसी भयको दूर करनेकेलिये किसी भी प्राणीको नहीं मारता अहिंसाणुब्रत कहलाता है।

भावार्थ—देवताकेलिये हिंसा करना—उसपर बलि चढ़ाना, किसी अतिथिको मांस खिलानेकेलिये पशुको मारना, श्राद्धकेलिये पशु मारना,

यज्ञमें पशु मारना, मंत्रकी सिद्धिके लिये किसी जीवको मारना, किसी औषधिके बनानेके लिये किसी जीवको मारना, किसी भयको दूर करनेके लिये किसी जीवको मारना आदि सब महा हिंसा है। इन सबमें संकल्पी हिंसा होती है। इसलिये इन सबकी हिंसाका त्याग कर देना अहिंसाणुत है।

आगे अहिंसा व्रतके लिये और भी कहते हैं।

त्रसमर्वप्रयत्नेन प्रारंभः प्रविष्टीयताम् ।

द्रवद्रव्यं तथा सर्वं वस्त्रपूतं निपीयताम् ॥ ४६ ॥

अर्थ— इस संसारमें जिस किसी कामका प्रारंभ किया जाय वह प्रयत्नपूर्वक यत्नावाग्पूर्वक त्रस जीवोंकी रक्षा करते हुए ही करना चाहिये। तथा पानी, तेल, धी आदि जले पदार्थ सब कपड़ोंमें छानकर काममें लाना चाहिये।

भावार्थ— प्रत्येक कार्य यत्नाचारपूर्वक करना चाहिये। जिससे कि किसी कामके करनेमें किसी त्रस जीवका घात न हो जाय। प्रत्येक कार्यमें त्रस जीवोंकी रक्षा करना गृहस्थज्ञा प्रथम कर्तव्य है। इसी प्रकार दृध, धी, तेल, पानी आदि सब पदार्थ कपड़ोंमें छानकर काममें लाने चाहिये। विना छाने कोई भी पतले पदार्थ काममें नहीं लाने चाहिये।

आगे अहिंसाणुतका फल दिखलाता है।

परमायुः परं रूपं परमं बुद्धिवैभवम् ।

परं प्रभुत्वमैश्वर्यमहिंसा येन पालिता ॥ ४७ ॥

अर्थ— जो मनुष्य अहिंसा व्रतका पालन करता है वह पूरी आयु पाता है, अत्यंत रूपवान होता है, अत्यन्त बुद्धिमान होता है और परम ऐश्वर्य पाता है।

भावार्थ— संसारमें जो जो उत्तम ज्ञान है, जो कुछ सुखकी सामग्री है, जो कुछ बड़णन है और जो कुछ ज्ञान दर्शन आदि आत्माके शुण प्रगट होते हैं वे सब अहिंसा धर्मके प्रभागसे ही होते हैं। संसारमें

अहिंसा धर्म ही सर्वोत्तम धर्म है। सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारके सुख इससे प्राप्त होते हैं और परम्परासे मोक्ष भी इसीसे प्राप्त होती है।

आगे अहिंसाणुव्रत पालन करनेवालेको क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

सर्व वस्तु परामृश्यं मृदुवस्त्रान्तप्लवैः।

दृशा पूतं निषेवेत पन्थासं शयनासनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—कोमल वस्त्रके अंतिम भागसे शोधकर तथा देखकर सब पदार्थोंको काममें लाना चाहिये। मार्ग भी देखकर चलना चाहिये, तथा सोने बैठनेकी जगह और विद्धि आदि सब देख कर काममें लाने चाहिये।

भावार्थ—सब पदार्थोंको देख शोधकर काममें लाना चाहिये, देख शोधकर उठाना चाहिये, देख शोधकर रखना चाहिये। देखकर चलना चाहिये, देखकर विछोना विछाना चाहिये और देखकर ही बैठना चाहिये। सब काम देख शोधकर करना चाहिये जिसमें किसी जीवकी हिंसा न हो जाय। जीवोंकी रक्षाकर ध्यान प्रत्येक काममें और प्रत्येक समयपर रखना चाहिये।

आगे अहिंसाव्रतके पालन करनेके लिये किन किन पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये सो बतलाते हैं।

(सन्धानं पुष्टिं मिश्रं पुष्पं मूलं फलं दलम् ।

तथान्तर्विवरप्रायं हेयं नालोदलादि यत् ॥ ४९ ॥)

अर्थ—अचार, फूले हुए पत्र, मिश्र, पुष्प, मूल, फल, दल, और जिनमें भीतर पोल हो ऐसे नछढ़ी आदि पदार्थ कभी नहीं खाने चाहिये।

भावार्थ—अचार वा संधानमें त्रस जीवोंकी भी उत्पत्ति हो जाती है इसलिये अचार कभी नहीं खाना चाहिये। जिस रोटी पूड़ी

या अन्य खानेके पदार्थोंमर सफेद सफेद) फूलन आ जाती है वे पुष्पित वा फूले हुए पदार्थ कहलाते हैं। जब कोई चीज विगड जाती है तभी उसपर फूलन आती है। वह फूलन अनंत जीवोंका समुदाय है इसलिये ऐसे पदार्थ कभी नहीं खाने चाहिये। मुख्या ऐसे पदार्थ मिश्र कहलाते हैं। इनमें भी अचारके समान त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये ऐसे पदार्थोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये। गोभी आदिके फूलोंमें भी त्रस जीव होते हैं। फूलोंमें कुछ न कुछ सुगंधि अवश्य रहती है और उस सुगंधिके ही कारण उसमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। आलू अरवी मूली सकरकंद आदि मूल कहलाते हैं। इन कंदमूलोंमें अनंतकाय स्थावर जीव होते हैं इसलिये इनका त्याग कर देना चाहिये। तथा ऐसे फल ऐसे पत्ते भी नहीं खाने चाहिये जिनमें त्रस जीव उत्पन्न होते हों या अनंतकाय हों। कमलकी डंडी और ऐसे और भी पत्ते जिनमें भीतर पोली जगह हो और जीव उत्पन्न होनिका स्थान हो, कभी नहीं खाने चाहिये। ये सब अमृत्यु पदार्थ हैं और अहिंसा धर्मको पालन करने-वाले श्रावकोंको सर्वथा त्याग कर देने योग्य हैं।

आगे और भी ऐसे पदार्थोंको दिलाते हैं।

बहुशोनंतदेहास्त्वमृतवृद्ध्यादिसंश्रयाः ।

सिंवयोपि नहि प्राश्या यतस्ताम्ब्रसंहिताः ॥ ५० ॥

अर्थ—गिलोय आदि वेलोंके आश्रय अनंत जीव रहते हैं इसलिये वे सर्वथा त्याग करने योग्य हैं। तथा सेम आदि फलियां भी नहीं खानी चाहिये। क्योंकि उनमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।)

भावार्थ—जिनमें अनंत जीवों का आश्रय हो ऐसे गिलोय आदि पदार्थोंके खानेमें लाभ थोड़ा होता है और हिंसा बहुत होती है। तथा सेम मटर होला आदि की फलियोंमें त्रस जीव पड़ ही जाते हैं इसलिये ऐसे पदार्थ भी नहीं खाना चाहिये। यद्यपि सेम मटर आदि फलियोंमें से शोध लेनेपर त्रस जीव अलग किये जा सकते हैं तथापि फिर उन जी-

कों की रक्षा होना कठिन ही है अतएव ऐसे पदार्थोंसे भी अला रहना अच्छा है । /

आगे रात्रिभोजन त्यागके लिये कहते हैं ।

निशायामशनं हेयमहिसाव्रतशुद्धये ।

मूलव्रतविशुद्धचर्यं यमार्थं परमार्थतः ॥ ५१ ॥

अर्थ— मूल व्रतोंको शुद्ध देखनेके लिये और अहिंसाव्रतको बढ़ाने के लिये तथा अहिंसा व्रतको यथार्थ रीतिसे धारण करनेके लिये रात्रिभोजनका त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ— मच्छर आदि ऐसे बहुतसे जीव हैं जो दिनमें नहीं निकलते, रात्रिमें ही निकलते हैं । तथा वे साधारण प्रकाशमें दिखाई भी नहीं दे सकते । ऐसे अनेक जीव भोजनमें मिल जाते हैं और वे किसी प्रकार अला नहीं किये जा सकते । रात्रि भोजन करनेवालोंको उन सब जीवोंकी हिंसाका पाप और उन वेळ मांस खानेका पाप लगता है । यदि रात्रिमें उन जीवोंको देखनेके लिये लैंग आदिका प्रकाश किया जाय तो उस प्रकाशके सहारेसे और भी अनेक जीव आजाते हैं और भोजनमें मिल जाते हैं । इसलिये रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग सदा के लिये कर देना चाहिये । रात्रिभोजनका त्याग किये विना न तो अहिंसा व्रत पल सकता है और न मूलगुण ही शुद्ध हो सकते हैं । इसलिये श्रावकोंके लिये रात्रिभोजनका त्याग करना अत्यावश्यक है ।

आगे और भी रात्रिभोजनके लिये कहते हैं ।

श्राद्धं नैव नवा स्नानं । नाहृतिर्देवतो विधिः ।

दानं नो विहितं रात्रावशानं तन्निषिध्यते ॥ ५२ ॥

अर्थ— रात्रिमें न तो श्राद्ध किया जाता है न स्नान किया जाता है न आहृति दी जाती है न देवता संबधी और कोई विधि की जाती है और न दान दिया जाता है । इसीलिये भोजनका भी रात्रिमें निषेद्ध किया जाता है ।

भावार्थ— जब स्नान करना और रात्रिमें निषिद्ध बतलाया है तब भोजनका निषेध तो होना ही चाहिये। रात्रिमें जो श्राद्ध और स्नान आदिका निषेध किया गया है वह जीवोंकी रक्षाके अभिप्रायसे ही किया गया है। जो लोग रात्रिमें भोजन करना बुरा नहीं समझते उनके मनमें ही श्राद्ध स्नान आदिका निषेध है। जब रात्रिमें सब कर्मोंका निषेध है तो भोजनका निषेध अवश्य होना चाहिये। तथा वह रात्रिभोजनका निषेध लगभग सब मतोंमें सब पुराणोंमें है। तथा उसका निषेध इतनी प्रबलतासे किया है कि रात्रिमें किये हुए भोजनकी उपमा मांससे दी है और रात्रिमें पिये हुए पानीकी उपमा रुधिरसे दी है। इसलिये श्रावकोंको तो वह रात्रिभोजन कभी नहीं करना चाहिये। रात्रि-भोजनके त्याग करनेसे अनेक जीवोंकी रक्षा होती है। हिंसा व मांस भक्षणके पापसे बचना होता है और स्वास्थ्य अच्छा रहता है। रात्रि-भोजन प्रकृतिके विरुद्ध है, इसलिये वह स्वास्थ्यके लिये भी अत्यंत हानिकारक है। प्रायः देखा गया है कि अनेक विषेषज्ञ जानवर भोजनमें मिलकर मनुष्यके प्राण तक हरण कर लेते हैं। इस प्रकार रात्रि-भोजनके त्यागसे इस लोकमें भी अनेक प्रकारकी हानियोंसे बचाव हो जाता है और अहिंसा धर्मका पालन होनेसे परलोक भी सुधर जाता है। इसलिये रात्रि-भोजन का त्याग प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है।

आगे रात्रि भोजनमें और भी दोष दिखलाते हैं।

भूतप्रेतादिभिर्यत्रामत्रे रात्रौ प्रहास्यते ।

त्रसा वा नैव दृश्यन्ते ततोऽस्य निशाशनम् ॥ ५३ ॥

अर्थ— रात्रिमें भोजनके त्याग करनेका एक कारण यह भी है कि रात्रिमें भूत प्रेत आदि सब जगह फिरते हैं। वे सब उसी वर्तनमें साथ खाजाते हैं। उसके सिवाय रात्रिमें फिरते हुए बहुतसे त्रस जीव दिखाई नहीं देते। इसलिये रात्रि भोजन त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये।

भावार्थ—रात्रिमें भूत प्रेत आदि फिरा करते हैं उनके स्पर्शसे वह अन्न अमध्य हो जाता है। राहि भोजन कानेवालोंको वही अमध्य भक्षण करना पड़ता है। तथा रात्रिमें अनेक छोटे छोटे जीव दिखाई नहीं देते; वे सब भोजनमें मिल जाते हैं। इन सब दोषोंके कारण रात्रि भोजनका त्याग कर देना ही सर्वथा योग्य है।

आगे द्विदलके त्याग करनेका उपदेश देते हैं।

(संयुतं द्विदलं हेयमासैस्तु मथितादिभिः ।

निष्पद्यन्ते यतस्तत्र विविशास्त्रसदेहिनः ॥ ५४ १२)

अर्थ—चना मूरा उड्ड अखूर आदि जिन अन्नोंके दो दाल बराबर हो जाय उनको द्विदल कहते हैं। ऐसे द्विदल कच्चे दही आदिके साथ मिलाकर कभी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि उनके मिलानेसे और मुहकी लवका संयोग होनेसे उसमें अनेक प्रकारके त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—कच्चे दूध, कच्चे कट्टी और कच्चे दूधके जमे हुए दही की छाछमें द्विदल अन्न मिलाकर खानेसे पेटमें ही अनेक त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये दहीमें मिलाकर द्विदल अन्न कभी नहीं खाना चाहिये।

आगे किसी द्वीन्द्रिय आदि जीवकी हिंसा हो जानेपर प्रायश्चित्त करनेकेलिये कहते हैं।

प्रमादादर्पतो वापि द्वीन्द्रियादिविराधने ।

नीतिशास्त्राविरोधेन यतिपाशेण विशोधयेत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रमादसे अथवा क्रोधादि कषायोंके उदय होनेसे दो इंद्रिय वा ते इंद्रिय आदि जीवोंकी हिंसा हुई हो तो नीति शास्त्रका विरोध न करते हुए किसी मुनिराजके पास प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।

भावार्थ—प्रमाद वा अहंकारसे किसी त्रस जीवका घात हो जाय

तो उसका प्रायश्चित्त लेकर उसकी शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये। तथा वह प्रायश्चित्त किसी सुनि वा त्यागीके दी समक्ष लेना चाहिये। और वह प्रायश्चित्त इस प्रकार लेना चाहिये जिसमें किसी भी नीतिशास्त्रसे विरोध न हो।

आगे पुण्य पापके कारण परिणाम इसी हैं ऐसा बतलाते हैं।

मृतेषि न भवेत्पापममृतेषि भर्तोद शुद्धम् ।

पापधर्मविधाने हि स्वान्तं हेतुः शुभाशुभम् ॥ ५६ ।

अर्थ— जीवोंके मर जानेपर भी पाप नहीं होता और बिना मरे भी पाप अवश्य लग जाता है। इस प्रकार पाप और पुण्यके होनेमें केवल शुभ अशुभ परिणाम ही कारण है।

भावार्थ— यदि किसी जीवको कानेके परिणाम हों और बचाने-के उपाय करते हुए भी वह मर जाय तो उसके मरनेसे उस उपाय करने-वालेको कुछ पाप नहीं लगता। इसी प्रकार यदि किसी जीवको मारनेके परिणाम हों और वह मारनेकेलिये प्रयत्न करे परंतु मारनेके प्रयत्न करनेपर भी वह बच जाय तो भी वह मारनेका प्रयत्न करनेवाला पापी ही है। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य पाप किसी जीवके न मरने वा मरनेसे नहीं होता किंतु अपने जैसे परिणाम होंगे वैसा ही पुण्य वा पाप होगा। यदि अपने परिणाम शुभ होंगे तो पुण्य होगा और यदि अपने परिणाम अशुभ होंगे तो पाप होगा। चाहे उनसे कोई जीव मरे वा बचे। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपने परिणाम सदा शुभ रखने चाहिये। अशुभ परिणामोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।।

आगे काय-बचनकी प्रवृत्तिको कहते हैं।

भाषाया व्रपुषो वापि शुभाशुभप्रमाश्रया ।

बृत्तिः स्वान्तादपूर्वेयं तदत्र प्रयत्नो भवेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मनकी प्रवृत्ति शुभ और अशुभ होनी है उसी प्रकार बचन और शरीरकी प्रवृत्ति भी शुभ और अशुभ होती है। तथा

वह शरीर और वचनकी शुभ अशुभ प्रवृत्ति मनसे सर्वथा भिन्न है। इस लिये वचन और शरीरकी प्रवृत्ति भी यत्नाचारपूर्वक करनी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार मनमें शुभ परिणाम ही रखने चाहिये, अशुभ परिणामोंका त्याग कर देना चाहिये उसी प्रकार वचन और शरीरकी क्रियाएँ भी सब शुभ ही करनी चाहिये। अशुभ वा पापजनक वचनोंका तथा ऐसी ही शरीरकी क्रियाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे वचन और शरीरकी पापरूप क्रियाओंको कहते हैं।

स्तेयाब्रह्महिंसादि पापं द्वेषाश्रितं विदुः ।

पैशून्यासत्यपारुष्यप्रायं भाषोद्धवं तथा ॥ ५८ ॥

अर्थ— चोरी करना, मैथुन करना, हिंसा करना आदि पाप सब शरीरके आश्रित समझने चाहिये। और चुगली खाना, झूठ बोलना, कठोर वचन कहना आदि पाप भाषा वा वचनके आश्रित समझना चाहिये।

भावार्थ— जो पाप शरीरसे किये जाते हैं वे शारीरिक पाप हैं और जो पाप वचनसे किये जाते हैं वे वाचनिक हैं। अहिंसा अणुब्रत पालन करनेके लिये इन दोनों प्रकारके पापोंका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि हन सबमें हिंसा होती है।

आगे मानसिक पापोंको बताते हैं।

मदेष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम् ।

परं प्रभुत्वसामर्थ्यं सर्वत्र मनसो भवेत् ॥ ५९ ॥

अर्थ—अहंकार वा घमंड करना, ईर्ष्या वा डाह करना, दूसरेकी प्रशंसाको सहन न करना, दूसरेकी निष्ठा करना आदि सब पाप मनसे उत्पन्न होते हैं। ये ऐसे पाप हैं जो केवल मनसे होते हैं। तथा वचन वा शरीरसे होनेवाले जितने भी पाप हैं उन सबमें मनकी सहायता—मनकी सामर्थ्य अवश्य होती है।

भावार्थ—मन सब इंद्रियोंका भुवु वा स्वामी है। इंद्रियां जितना व्यापार करती हैं उन सबमें सैनी जीवोंके मन अवश्य सहायक होता है।

सैन्ती जीवोंके विना मनकी प्रवृत्तिके कर्त्तव्य इंद्रिय काम नहीं कर सकती । इसलिये वचन और शरीरसे होनेवाले पापोंमें भी मन सहायक होता है और अहंकार इष्ट्या, निदा, दूसरेका ब्रुरा चित्तवन आदि पाप स्वतंत्र भी करता है । यदि मन वशमें हो जाय तो फिर यह जीव सब पापोंसे बच सकता है । इसलिये अहिंसाव्रतके^१ हठ करनेकेलिये मनको वशमें करना चाहिये । इसको अच्छे विचारोंमें लगा देना चाहिये और बुरे विचारोंसे सर्वथा हटा लेना चाहिये^२ ।

आगे हिंसा तथा अहिंसाकेलिये और भी कहते हैं ।

यद्यारम्भो ध्रुवं हिंसा नारम्भो वा न हिंसनम् ।

यत्नायत्नौ परं स्थातां निदाम् धर्मपापयोः ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि आरंभ करना हिंसा है तो आरंभ न करना अवश्य ही अहिंसा है । इनमेंसे आरंभ यत्नपूर्वक किया जाता है और अनारंभ बिना प्रयत्नके ही हो जाता है । तथा आरंभ पापका कारण है और अनारंभ धर्मका कारण है ।

भावार्थ—आरंभ करनेमें कुछ न कुछ हिंसा अवश्य होती है । यदि आरंभमें मन वचन कायकी प्रवृत्ति तीव्र कषायोंसे की जाती है तो तीव्र हिंसा होती है और उससे महा पापका बंध होता है । यदि वह मन वचन कायकी प्रवृत्ति मंद हुई और काषय भी मंद हुई तो कम पाप होता है । परंतु यह नियम है कि जहाँ आरंभ होता है वहाँ हिंसा और पाप होता अवश्य है । और वह आरंभ प्रयत्नपूर्वक किया जाता है । विना किये आरंभ होता ही नहीं । यदि उस कामके करनेकेलिये प्रवृत्ति न की जाय—उसकेलिये कुछ प्रयत्न न किया जाय तो आरम्भ हो ही नहीं सकता । आरम्भका न होना ही अनारंभ है । उसमें कोई किसी प्रकारका पाप नहीं होता । वह अनारंभ धर्मका मूल ऋण है । इससे यह सिद्ध होता

१ जिन जीवोंके मन नहीं है उनकी इंद्रियां स्वतंत्र व्यापार करती हैं । उनकेलिये मनकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती ।

है कि पाप करनेकेरिये तो हमें प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु धर्म आत्माका स्वाभाविक गुण है उसकेरिये कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता वह सहज और स्वभावसे ही होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको धर्म की ओर ही अपने आत्माको लगाना चाहिये। उसे आरम्भ और प्रवृत्तियोंकी ओर कभी नहीं झुकाना चाहिये।

आगे उदाहरण देकर हिंसाका त्याग करनेकेरिये कहते हैं।

हिंसातो यद्वेत्यापं तद् बतैरेव शाम्यति ।

नोपवासशतैः साध्यो व्याधिः शोम्यति सर्पिषा ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो पाप हिंसासे उत्पन्न होता है वह पाप ब्रतोंसे ही शांत होता है। जो रोग सैकड़ों उपवास अरनेसे दूर हो सकता है वह रोग भी पीनेसे कभी शांत नहीं होता।

भावार्थ—जो रोग सैकड़ों अवास करनेसे दूर हो सकता है वह भी पीनेसे वा अन्य पौष्टिक पदार्थोंके खानेसे कभी दूर नहीं हो सकता। भी वा पौष्टिक पदार्थोंके खानेसे तो वह रोग और बढ़ता है। उसी प्रकार जो पाप हिंसासे उत्पन्न होता है वह पाप अन्य प्रकारकी हिंसा करनेसे दूर नहीं हो सकता। वह पाप तो हिंसा झूठ चोरी आदि समस्त पापोंका त्याग कर ब्रतोंको धारण करनेसे ही दूर हो सकता है। पापोंसे बचनेके लिये और कोई उपाय नहीं है। अतएव पापोंसे बचनेकेरिये ब्रत धारण करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

आगे वह पाप कुदानसे भी दूर नहीं होता ऐसा बतलाते हैं।

हेमादिपशुभूमीनां रामाशग्नान्वाससाम् ।

दानं वैहुविधीरतेः पापं नैव प्रशाम्यति ॥ ६२ ॥

अर्थ—सोभा, चांदी, पशु, भूमि, खी, शग्ना, अन्न, वस्त्र आदि अनेक प्रकारकी चीजोंके दान देनेसे वह पाप कभी शांत नहीं होता।

भावार्थ—जिस दानके देनेवाले और लेनेवाले दोनोंहीके आत्माका कल्याण हो वही दान सुदान कहलाता है। और जिस दानसे हिंसा हो

तथा जो परंपरासे हिंसाका साधन हो वह दान नहीं, कुदान कहलाता है। सोना, चांदी, पशु, भूमि, स्त्री आदि के दानसे किसीके आत्माका कल्याण नहीं होता, किंतु उलटा पाप होता है। जो मनुष्य दानमें सोना चांदी लेगा, पशु लेगा, भूमि लेगा, कह सिवाय आरंभके और क्या कर सकेगा। तथा आरंभमें हिंसा होती ही है। इस प्रकार इन सबका दान हिंसाका कारण है—पापका कारण है। इनसे पाप नष्ट नहीं हो सकता। इसलिये इनका दान कुदान है। श्रावकोंको कर्ता नहीं देना चाहिये। यदि चैत्य चैत्याल्यका सतत खर्च चलानेके लिये सोना चांदी भूमि आदिका दान दिया जाय तो वह धर्मकी वृद्धिका कारण है—परंपराके लिये धर्म चलानेवाला है इसलिये वह कुदान नहीं है, किंतु वह सुदान है।

आगे हिंसादि पापोंको शांत करनेके लिये क्या करना चाहिये सो बतलाते हैं।

मनोभाषावपुदान्त्या तपसिला परं तपः ।

पात्रे दानं ततो देयं हिंसादोषनिवृत्तये ॥ ६३ ॥

अर्थ—हिंसासे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर करनेके लिये मन वचन कायको दमन करना चाहिये। उत्तम तपश्चरण करना चाहिये और फिर पात्रोंको दान देना चाहिये।

भावार्थ—संसारमें जितने पाप हैं वे सब मन वचन काय की क्रियाओंसे होते हैं। यदि मन वचन काय तीनों वशमें हो, तीनोंका दमन किया जाय तो फिर पाप नहीं हो सकता। यदि मन वचन काय वशमें न हो सके तो फिर उपवास आदि बाहृ प्रकारका उत्तम तपश्चरण करना चाहिये। तपश्चरण करनेसे अपगेके कर्म भी नहीं आते और पिछले कर्म भी सब नष्ट हो जाते हैं। तथा जो मनुष्य मन वचन कायको भी वशमें नहीं रख सकता और तपश्चरण भी नहीं कर सकता उसे उत्तम पात्रोंको दान देना चाहिये। दानका फल उतना ही उत्तम होगा जितना कि लेनेवाला पात्र उत्तम होगा। इसका भी

कारण, आहारदानसे मोक्षका कारणभूत तत्त्वरण किया जाता है इसलिये दान देनेवाला भी मोक्ष मार्गको प्रवृत्तिमें सहायक गिना जाता है। और इसप्रकार वह अनंत पुण्यका साथी होता है। श्रावकोंको दान देना और मगवान अरहंत देवकी पूजा करना ये दो मुख्य कर्तव्य बतलाये हैं। गृहस्थीमें होनेवाले आरंभ संबंधी सब पाप इन दोनों कर्तव्योंसे नष्ट हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येक श्रावकको दान पूजा ये दोनों कार्य सदा करते रहना चाहिये।

आगे अचौर्याणुव्रतको कहते हैं।

परस्वस्याप्रदत्तस्यादानं स्त्रियमुदाहृतम् ।

सर्वस्वाधीनतोयादेन्यत्र तन्मतं सताम् ॥ ६४ ॥

अर्थ— नदी कूएका जल वा खानिकी मिठी आदि ऐसे पदार्थ जो सर्व साधारण लोगोंके लिये खुले क्षुण्ड हैं जिनके लेनेके लिये राज्यकी ओरसे वा अन्य किसीकी ओरसे कोई किसी प्रकारकी रोक टोक नहीं है ऐसे पदार्थोंको छोड़ कर दूसरेके घनको वा किसी भी पदार्थको विना दिया हुआ ग्रहण करना सज्जनोंके मतमें चोरी गिनी जाती है।

भावार्थ— जिन पदार्थोंमें लेने इनेका व्यवहार होता है ऐसे दूसरे के विना दिये हुये पदार्थोंको लेना चोरी है और चोरीका त्याग कर देना अचौर्याणुव्रत है।

आगे अचौर्याणुव्रत पालन करनेके लिये और भी विधि बतलाते हैं।

मन्दिरे मन्दिरद्वारे पथि स्थाने वनेम्बुनि ।

तन्मान्यदीयभादेयं स्वापतेऽव्रतार्थिभिः ॥ ६५ ॥

अर्थ— व्रत धारण करनेकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको किसी मंदिरमें, मकानमें, मकान वा मंदिरके दखाजेपर, मार्गमें वा अन्य किसी स्थानमें, किसी बनमें वा पानीके भीत्र रखने हुए, पढ़े हुए, भूले हुए, दूसरेके घनको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ— किसी दूसरेका घन वा कोई अन्य पदार्थ चाहे जहाँ

पड़ा हो उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये । उसे वहीं छोड़ देना चाहिये । यदि वह धन वहीं पड़ा रहे तो कभी न कभी अपने स्वामीको अवश्य मिल जायगा । यदि उस अनका कोई स्वामी न हो तो वह धन राजाका समझा जाता है । ऐसे अनको भी कभी नहीं लेना चाहिये । आचकके इस प्रकारके ब्रत पालन करनेको अचौर्यणुब्रत कहते हैं । आगे अचौर्यणुब्रतीकेलिये और भी उपदेश देते हैं ।

वंशानामत्यये वित्तमदत्तमपि पुम्मतम् ।

समर्पितं निदेशेन ब्रतहानिरतोऽस्यथा ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि अपने कुनवामें कोई ऐसा पुरुष मर जाय जिसके धनका अधिकारी पुत्र पौत्र आदि कोई न हो तो उसके धनको विना दिया हुआ भी लेनेमें अचौर्यणुब्रतमें कोई दोष नहीं लगता । इसका भी कारण यह है कि वह धन अपने ही कुलका है इसलिये उसके वंशमें किसी दायादके न रहनपर उस धनपर अपना अधिकार रहता है इसीलिये उससे अचौर्यणुब्रतमें कोई दोष नहीं आता । इसी प्रकार अपने वंशमें कोई धनी हो और वह स्वयं अपने धनको दे देवे अथवा उस धनको लेनेकेलिये आज्ञा देदेवे तो उस धनके ले लेनेमें भी अचौर्यणुब्रतमें कोई दोष नहीं लगता । इन दोनों प्रकारके धनको छोड़कर और किसी प्रकारका किसीका इन ग्रहण नहीं करना चाहिये । यदि ग्रहण किया जायगा तो उससे अचौर्यणुब्रत नष्ट हो जायगा ।

आगे अचौर्यणुब्रतकेलिये और भी विशेष बतलाते हैं ।

द्रव्यं निधिनिधानोत्थं भूपादन्स्य नो भवेत् ।

निरीशस्य यतः स्वस्य दायादो मेदिनीपतिः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो द्रव्य किसी खजानेसे निकला हो या भूमिसे निकला हो तो वह धन राजाका होता है । राजाके सिवाय अन्य कोई उसका स्वामी नहीं हो सकता । इसका भी कारण एक नीतिशास्त्रका नियम है कि जिस धनका कोई स्वामी न हो उसका अधिकारी वा स्वामी राजा ही होता है ।

भावार्थ—जिस धनका कोई स्वामी न हो उसका स्वामी राजा होता है इसलिये ऐसे धनका ग्रहण करना भी चोरी है। अचौर्यणु-त्रतीको कभी ऐसा धन नहीं लेना चाहिये।

विस्मृतं पतितं न्यस्तं निहितं मन्दिरादिषु ।

स्वापतेयं तदादेयं नान्यद्वयं मनीषिभिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो दूसरेका धन किसी मंदिर वा गुफा पर्वत आदिपर रखा हो, कोई भूल गया हो, किसीका पड़ गया हो या कोई छिपाकर रख गया हो ऐसे दूसरेका धन भी बुद्धिमान लोगोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—ऐसे गिरे पड़े धनको ले लेना भी चोरी है। बुद्धिमानोंको कभी ऐसा धन नहीं लेना चाहिये।

परद्रव्याशयाल्लोभः स्वस्योपि परिवर्द्धते ।

मन्दोपि वर्द्धते वन्हिरिधिनैः सह सर्पिणा ॥ ६९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ईधन और धीके साथ थोड़ीसी भी अभि बढ़कर बहुत हो जाती है उसी प्रकार थोड़ासा भी लोभ दूसरेके धनके ग्रहण करनेकी इच्छासे बढ़कर बहुत भारी हो जाता है।

भावार्थ—जैसा धी और ईधन डाला जाता है वैसी ही वैसी अभिकी लौ बढ़ती जाती है। धी डालते ही लौ बढ़ती जाती है। उसी प्रकार यदि लोभ थोड़ा भी हो कीर दूसरेका धन ग्रहण करनेकी इच्छा की जाय तो वह थोड़ासा भी लोभ बढ़कर बहुत हो जाता है। दूसरेके धनकी इच्छा होते ही लोभ बढ़ जाता है इसलिये दूसरेके धनके ग्रहण करनेकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये।

सर्वेष्यपहृते द्रव्ये पुमांसो विह्वलाशयाः ।

प्रियन्ते शस्त्रनिर्भिन्नमर्मसूला नरा यथा ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिन लोगोंका मर्मस्थान शस्त्रोंसे छिद् भिद गया है ऐसे मनुष्य शीघ्र मर जाते हैं उसी प्रकार जिन लोगोंका धन

हरण कर लिया जाता है उन लोगोंका हृदय भी व्याकुल हो जाता है और फिर वे घबड़ा कर शीघ्र ही मर जाते हैं।

भावार्थ— गृहस्थजीवन विना धनके चल ही नहीं सकता।-उसके लिये धन अत्याबश्यक है। जब कभी लोग बाहर जाते हैं और चोर लुटेरोंके आनेका समय आजाता है तो लोग यही कहते हैं कि प्राण रहते तो कोई हमसे ले नहीं सकता। हमको मार कर भले ही कोई ले जाय। इससे सिद्ध होता है कि धनको लोग प्राणोंसे भी बढ़कर मानते हैं। प्राण देनेको तैयार हो जाते हैं पर धन देनेवाले तैयार नहीं होते। ऐसे प्राणों से प्यारा धन जब हरण कर लिया जाता है तब उन लोगोंको अत्यंत ही दुःख होता है। मारे दुःखके बे लोग मरेप्रे हो जाते हैं और उनमेंसे बहुतसे लोग तो उस दुःखसे तथा आगामी कालमें गृहस्थजीवन अत्यंत दुःखरूप हो जानेके कारण मर ही जाते हैं। उन सबकी हिंसा उन द्रव्य हरण करनेवालोंको होती है। इसलिये दूसरेका द्रव्य हरण कभी नहीं करना चाहिये। इसका त्याग सदाकेलिएं कर देना चाहिये।

आगे चोरी करनेवालेको दोनों लोकोंमें दुःख होता है ऐसा बताते हैं।

बधवन्धभयं रोधः सर्वस्वस्यापहारिता ।

सर्वत्रेह द्रुतं स्तेयात्परत्र निरयो ध्रुवम् ॥ ७१ ॥

अर्थ— चोरी करनेवालोंको अथवा धन हरण करनेवालोंको इस संसारमें भी सब जगह बध बंधनका भय होता है और वे कारागारमें भी रोके जाते हैं। तथा परलोकमें अवश्य ही उन्हें नरकके दुःख भोगने पड़ते हैं।

भावार्थ— चोरी करनेवाले वा धन हरण करनेवाले कारागारमें रोके जाते हैं। वहाँ उनपर खूब मार पड़ता है। वे खंभोंसे बंधे जाते हैं उनके हाथ पैर सदा बंधे रहते हैं और उन्हें अनेक प्रकारके दुःख दिये जाते हैं। ये सब दुःख तो इसी जन्ममें महने पड़ते हैं। तथा परलोकमें

उन्हें नरकमें जाना पड़ता है और वहांपर सागरों तक अत्यंत कठोर दुःख भोगना पड़ता है। इसलिये ब्रूद्धेमानोंको चोरीका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे चोरीका फल उदाहरण देकर बतलाते हैं।

श्रीभूतिर्महर्ती प्राप्य पुराण्ये प्रहास्यताम् ।

परद्रव्यात्ततो दीनः प्रणेनंतसंसृतिम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—श्रीभूति पुरोहित परद्रव्य हरण करनेके कारण अपने नगरमें बड़ी ही हसीका पात्र हुआ था और फिर दीन होकर उसने अनंत संसारमें परिभ्रमण किया।

भावार्थ—श्रीभूति पुरोहितने। अपने सत्य भाषणकी प्रसिद्धि कर रखी थी और अपना नाम सत्यर्थीष प्रगट कर रखा था। इस पर लोगोंका विश्वास हो गया था और बहुतसे लोग वहां अपना अपना धन धरोहर रख जाते थे। परंतु वह कृष्ण जिसका धन रखनेमें अविश्वास प्रगट होता दीखता था उसका धन देझता था। और बाकी धन हड्डप कर जाता था। अंतमें यह सब लीला प्रगट होनेपर राजाने उसे भारी दंड दिया। और अंतमें मरकर उसे अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा। इसलिये चोरी वा परद्रव्य हरण किसीको नहीं करना चाहिये और अचौर्याणुव्रत धारण कर आत्मकल्पण करना चाहिये।

आगे अचौर्याणुव्रत वा चोरकी त्यागका फल दिखलाते हैं।

रत्नानि रत्नधामानि रत्नाम्बरविभूतयः ।

स्त्रीरत्नादीनि रत्नानि भवन्त्यस्तेयपालनात् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो अचौर्याणुव्रत पालन करते हैं उन्हें अनेक प्रकारके रत्न, रत्नोंके भवन, रत्नजटित वस्त्र, अर्फ़क प्रकारकी विभूतियाँ और उत्तम उत्तम स्त्रीरत्न आदि अनेक उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अचौर्याणुव्रत पालन करनेसे इस लोकमें भी सर्वोत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं और परलोकमें भी स्वार्गादिके अनेक सुख प्राप्त होते

हैं। इसलिये प्रत्येक अनुपयको अचौर्याणुव्रतका पालन करना चाहिये।
आगे सत्याणुव्रतका वर्णन करते हैं।

नारायणाददा न दोषस्था मर्ममाधुपदस्थिता ।

भाषा भाषा सतां नित्यं सत्यासत्या हिता मिता ॥७४॥

अर्थ—जो वचन असंभव न हों, जैसे दोषसे उत्थन न हों, जो मधुर शब्दोंसे बने हों, सबका हित करनेवाले हों, परिमित वा थोड़े—काम चलाने योग्य हों ऐसे सत्यासत्य वचन मञ्जनोंको सदा बोलने चाहिये।

भावार्थ—वचन चार प्रकारके हैं: असत्यसत्य, सत्यासत्य सत्यसत्य और असत्यासत्य। जो वाक्य असत्य तो हों परंतु उनमें कुछ सत्यता हो उनको असत्यसत्य कहते हैं। जैसे कपड़े बुनता है। सूत बुना जाता है। सूत बुनकर कपड़े तयार होते हैं इसलिये कपड़ेका बुना जाना असत्य है परंतु बुन कर कपड़े ही तैयार होते हैं इसलिये कपड़ोंका बुनना कुछ अंशमें सत्य भी है। ऐसे वचनोंको असत्यसत्य कहते हैं। जो वचन सत्य हों परंतु उनमें कुछ असत्यता हो ऐसे वचनोंको सत्यासत्य कहते हैं। जैसे तुम्हारा रुपया पंद्रह दिनमें दूंगा ऐसा कहकर भी वीस पच्चीस दिनमें देना वा महीना भरमें देना। उसने रुपया दिया अह सत्य है परंतु दिया देरसे इतना भाग इसमें असत्य है। ऐसे वचनों को सत्यासत्य कहते हैं। जो पदार्थ द्रव्य क्षेत्र काल भावसे जैसे हों उनको वैसा ही कहना सत्यसत्य है। सत्यसत्यमें असत्यका अंश सर्वथा नहीं है। तथा जो सर्वथा असत्य हो—जिस में सत्यका कुछ भी अंश न हो ऐसे वचनोंको असत्यासत्य कहते हैं। जैसे जिसके घरमें एक पैसा भी नहीं है और वह कहता है कि वाहजी तुम्हारा रुपया एक कल्यकाल वाद अवश्य तूँगा। इन चारों प्रकारके वचनोंमें सत्यासत्य तो सर्वथा ही त्याग ब्रह्म देने योग्य है। और बाकीके तीन प्रकारके वचनोंमें लोकद्वयबहारका रिवाह होता है। इसलिये सत्याणुव्रतियोंको तीन प्रकारके वचन बोलने चाहिये तथा वे भी सबका भला

करनंवाले और थोड़े बोलने चाहिये । क्योंकि मर्मच्छेदी वचन कहनेसे हिंसा होती है । और अधिक वक्तन कहनेसे मिथ्या वचन निकल जानेकी संभावना रहती है । इसी प्रकार किसीके निराश्रु वचन वा असंभव वचन नहीं कहना चाहिये । सहा शास्त्रानुकूल हित मित वचन कहना चाहिये ।

आगे हिंसाकारक सत्य वक्ता भी नहीं कहने चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

तत्सत्यमपि नो भाष्यं प्रत्यात्परविपत्तये ।

वर्तन्ते येन वा स्वस्य व्यापदस्तु दुरुत्तराः ॥ ७५ ॥

अर्थ— ऐसा सत्य वचन भी नहीं कहना चाहिये जिसके कहनेसे अन्य लोगोंपर आपत्ति आवे । अथवा जिनके कहनेसे अपने ही ऊपर भारीसे भारी आपत्ति आवे ॥

भावार्थ— किसी चौरायेपर कोई मनुष्य खड़ा है, उसके सामनेसे कोई जानवर दौड़ता हुवा चला जाय । उसके पीछे पीछे कुछ देर बाद शस्त्र लिये हुए उसको मारनेवाला कसाई वा अन्य कोई वधिक दौड़ता आवे और वह उस खड़े हुए मनुष्यसे पूछे कि जानवर किधर गया है । ऐसी अवस्थामें वह मनुष्य समझ भक्ता है कि यदि मैं सच बतलाये देता हूँ तो अवश्य ही यह पकड़कर उसे मार डालेगा । इसलिये उसकी जान बचानेकेलिये उस समय उसे उट्टा रास्ता बतला देना ही चाहिये । उस समय सत्य भाषण करना उस जानवरकी जान खोना है । इसी प्रकार अपने ऊपर भी सत्य बोलनेसे ऐसी ही कोई आपत्ति आवे तो भी उस सत्यका अर्थ अपनी हिंसा करना है । हिंसाका त्याग करनेकेलिये ही झूठका त्याग किया जाता है क्योंकि झूठ बोलनेमें हिंसा अवश्य भ्रोती है । इसलिये जिस सच बोलनेसे ही हिंसा हो वह सच बोलना भी झूठके समान है । इसलिये जिस सच बोलनेसे हिंसा हो ऐसा सच भी कभी नहीं बोलना चाहिये ।

आगे कैसी भाषा बोलनी चाहिये और कैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये सो बतलाते हैं ।

रोषाप्रत्ययवैरादिर्पायासप्रवर्त्तिनी ।

भाषा हेषा सदा भाष्या पथ्या तथा श्रुतिप्रिया ॥ ७६ ॥

अर्थ- जो भाषा क्रोधके कारण किसीके साथ वैर उत्पन्न करनेवाली हो अभिमान उत्पन्न करनेवाली हो क्षेत्र वा दुःख उत्पन्न करनेवाली हो ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये । प्रत्येक मनुष्यको भाषा ऐसी बोलनी चाहिये जो कानोंको प्यारी लानेवाली हो और सबका हित करनेवाली हो ।

भावार्थ- क्रोधके कारण कभी कभी ऐसे वचन निकल जाते हैं जो किसीके हृदयमें वैरमाव उत्पन्न कर देते हैं वा अभिमान उत्पन्न कर देते हैं अथवा मर्मच्छेदी होनेके कारण हृदयका दुःख पहुंचाते हैं अथवा अपने ही आत्ममें ये सब विकार उत्पन्न कर देते हैं । ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिये । वचन यथार्थ कहने चाहिये और ऐसे कहने चाहिये जो सबको अच्छे लगे । तथा वर्मीविरुद्ध वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये । वचन सदा शास्त्रानुकूल ही कहने चाहिये ।

आगे चार प्रकारके असत्य बतलाकर उनका त्याग करानेकेलिये कहते हैं ।

निषेधो विद्यमानस्य वस्तुनो यत्र भाष्यते ।

तदसत्यं मतं पूर्वं न मृत्युदेहिनां यथा । ७७ ।

अर्थ— जहांपर विद्यमान पदार्थोंका निषेध किया जाता है वह पहिला असत्य है जैसे शरीरवारी प्राणियोंकी मृत्यु होती ही नहीं ।

भावार्थ— जो पदार्थ विद्यमान है स्वके सामने उपस्थित है उसका निषेध करना और कहना कि यह पदार्थ है ही नहीं सो पहला असत्य वा झूठ है । जैसे यह कहना कि संसारी जीवोंकी मृत्यु होती ही नहीं । जीव कोई अलग पदार्थ है ही नहीं, स्वर्ग नरक कहीं हैं ही नहीं; ऐसे बनन मनुष्योंको कभी नहीं बोलने चाहिए ।

आगे दूसरा असत्य बतलाते हैं ।

भावस्याविद्यमानस्य मिष्ठा चुद्रया प्रसाधनम् ।

स द्वितीयो मृषावादो यथा सिद्धाः पतन्त्यमी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो पदार्थ विद्यमान नहीं है—जिसकी कहीं भी सत्ता नहीं है ऐसे पदार्थोंको भी ज्ञान मूठ बुद्धिमें कल्पना कर सिद्ध करना दूसरा ज्ञान है । जैसे सिद्ध भगवान् फिर भी मोक्षसे आकर जन्म लेते हैं ।

भावार्थ—जन्म मरण कर्मोंके उदयसे होता है और सिद्ध पद सब कर्मोंके नष्ट होनेसे प्राप्त होता है । इसीलिये सिद्ध भगवान् मोक्षसे कभी लौट नहीं सकते । वे फिर कभी जन्म मरण धारण नहीं कर सकते । परंतु उनके लिये भी यह कहना कि वे मोक्षसे फिर लौटकर जन्म धारण करते हैं । यह वचन दूसरा असत्य है । अत्याणुत्रियोंको ऐसे वचन कभी नहीं कहना चाहिये ।

आगे तीसरा असत्य बतलाते हैं ।

मिन्नरूपाः पदार्थो ये ते विष्यासमाप्तिः ।

स तृतीयो मृषावादो यशा सर्वे विषं सुधा ॥ ७९ ॥

अर्थ—पदार्थोंका स्वरूप तो कुछ और है परंतु उसके प्रतिकूल कहना तीसरा ज्ञान है । जैसे यह सा विष अमृत है ।

भावार्थ—विषका स्वभाव मारना है और अमृतका स्वभाव जीवित रखना है । ऐसा होने पर भी विषको अमृत कहना या अमृतको विष कहना, देवोंको कुदेव कहना या कुदेवों के देव कहना, हिंसा को धर्म बतलाना आदि सब तीसरा ज्ञान है । ऐसा इष्ट भी श्रावकोंको नहीं बोलना चाहिये । आगे चौथा ज्ञान बतलाते हैं ।

सावद्यादिमहादोषेस्तुरीयं दूषितं मतम् ।

यथा वन्हो हुताः सर्वे पश्चवो यान्ति स्वःस्थितिम् ॥ ८० ॥

अर्थ—हिंसा आदि मता वर्गोंसे भरे हुए सदोष मतोंका प्रचार करना चौथा ज्ञान है । जैसे जो यशूयज्ञमें होमे जाते हैं वे सब स्वर्ग में चले जाते हैं ।

[४५]

भावार्थ—बहुतसे लोग कहते हैं कि पशु यज्ञके लिये ही हैं यज्ञमें उन का होम करना ही चाहिये । जो पशु यज्ञमें मर जाते हैं वे स्वर्गमें पहुंच जाते हैं इसलिये उनकी हिंसा हिंसा नहीं कहलाती । इसी प्रकार बहुतसे मनुष्य आद्वादिकमें भी मांस भक्षणका विभान करते हैं और कहते हैं कि मद्यमांसादिकके सेवन करनेमें कोई दोष नहीं है । ऐसे सब वचन झूठ हैं । श्रावकोंको और बुद्धिमानोंको ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये । आगे सत्यवादीकी प्रशंसा करते हैं ।

दद्यते न हुताशेन प्राव्यते चापि सिन्धुना ।

धन्यः सत्यवलोपेतः सपैरपि न दश्यते ॥ ८१ ॥

अर्थ—जिसके पास सत्य वचनका महाबल विद्यमान है वही मनुष्य संसारमें धन्य है । ऐसा सत्यवादी मनुष्य न तो अग्निमें जल सकता है । न समुद्रमें है; और न उसे सर्प काट सकता है ।

भावार्थ—जिसके सत्य भाषणका नियम है उससे संसारमें कोई भी पाप नहीं हो सकते क्योंकि वह जो जो पाप करेगा वह सब उसे कहना पड़ेगा इसी कारण वह सब पापोंसे बच सकता है । तथा जो सब पापोंसे बचेगा उसका आत्मा निर्मल अवश्य होगा । और जिसका आत्मा निर्मल होगा वह अग्नि जल सर्प सिंह आदि सब आपत्तियोंसे बच जायगा । इस लिये श्रावकोंको सदा सत्य वचन ही कहने चाहिये । मिथ्या भाषण कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे और भी सत्यवादी की प्रशंसा करते हैं ।

(नरो मातेव विश्वास्यः सर्वमान्यः पितेव वा ।

सत्यवादी श्रियो नित्यं सुधाधुरिव देहिनाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—संसारके सब प्राणी माताके समान सत्यवादीका विश्वास करते हैं पिताके समान उसे सर्व पूजा समझते हैं और भाईके समान सदा प्रिय मानते हैं ।

भावार्थ—संसारमें जैसा माताका विश्वास किया जाता है वैसा

अन्य किसीका विश्वास नहीं किया जाता । परन्तु सत्यवादीका विश्वास मातासे भी अधिक किया जाता है । इसी प्रकार संसारमें सबसे मान्य पिता होता है । पिताको लोग जैसा पूज्य और बड़ा समझते हैं वैसा अन्य किसीको नहीं । परन्तु सत्यवादी मनुष्यको लोग पितासे भी अधिक पूज्य व बड़ा समझते हैं । तथा अच्छा उश्शलि माई सब भाइयोंको प्यारा होता है । उसी प्रकार सत्यवादी भी सबको उपारा होता है । कहांतक कहा जाय । सत्य भाषणकी बड़ी महिमा है । इसलिए सबको सदा सत्य भाषण ही करना चाहिये ।

आगे और भी सत्यकी महिमा दिखलाते हैं ।

सत्यवादी प्रियो नित्यं शीर्लैरपि विद्विनः ॥

युतोपि व्रतशीलाभ्यां शृणावादी पराधमः ॥ ८३ ॥

अर्थ—सत्यवादी मनुष्य यदि व्रत शील रहित भी हो तो भी वह सदा सबका प्यारा रहता है । और मिथ्या भाषण करनेवाला यदि व्रत शीलोंसे सुशोभित हो तो भी वह नीच कहलाता है ।

भावार्थ—सत्य भाषणकी इतनी महिमा है कि यदि सत्यवादी अनुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि कोई भी व्रत पालन न करे तो भी लोग उसे मानते हैं और पूज्य समझते हैं । तथा कोई अन्य मनुष्य सब व्रतोंको पालन करता हो परन्तु वह मिथ्या भाषण करता हो—झूठ बोलता हो तो लोग उसे नीच ही समझते हैं । झूठे मनुष्यके व्रत पालन भी सब व्यर्थ हैं । इसलिये झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये ।

आगे मिथ्या भाषणके दोष दिखलाते हैं ।

महापापास्त्रद्वारं वितर्थं पृथितं सदा ॥

निष्पापोपि वसुस्तस्माद् भूमेदेऽनिरथं ययौ ॥ ८४ ॥

अर्थ—यह मिथ्याभाषण महापापोंसे आश्रवका कारण है । देखो राजा वसु सर्वथा निष्पाप था तथापि केवल झूठ बोलनेके कारण उसे सातवें नक्षत्रमें जाना पड़ा ।

भावार्थ—सजा बसुने झूठ बोलकर सदा के लिये घोर हिंसा की परिपाटी नियत कर दी। यदि वह उस समय झूठ न बोलता तो आज तक जो यज्ञोंमें असंख्यात झूठ मारे गये हैं वे कभी न मारे जाते। उन सब पशुओंकी हिंसा का मुख्य कारण राजा बसुका झूठ बोलना है। और इसी पापके कारण उसे नरकमें जाना पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि झूठ संसारके सब महापापोंका कारण है। इसलिये अठ कभी नहीं बोलना चाहिये।

आगे प्रिय बचन कहनेवालेकी प्रशंसा करते हैं।

प्रियशीलः प्रियारम्भः प्रियधर्मः प्रियंवदः ।

भवेदान्तरतो जित्यं जित्यं परहिते रतः ॥ ८५ ॥

अर्थ— जो मनुष्य भयुम बक्स कहनेवाला है वह सबको ध्यारा होता है। वह सब काम ऐसे करता है जो सबको प्यारे हों। वह धर्मसे भी प्रेम करता है, दान देनेमें भी उमीन होता है और सदा दूसरेका हित करनेमें ही तत्पर रहता है।

भावार्थ— प्रिय बचन कहनेवाला सदा उत्तम कार्य ही करता रहता है; परोपकार ही करता रहता है। इस लिये सबको प्रियवादी ही बनना चाहिये।

सा मिथ्या न भवेन्मिथ्या या यत्यादिप्रसादिनी ।

न स्त्रयादात्मनात्मानं न प्रं परिवदयेत् ॥ ८६ ॥

अर्थ— जो बचन मुनि, गुरु वा अन्य धर्मात्मा आदि जीवोंको प्रसन्न करनेवाले हैं वे मिथ्या होनेपर भी मिथ्या नहीं गिने जाते। तथा अपने आप अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये और किसी दूसरेकी निंदा न करनी चाहिये।

भावार्थ— गुरु, मुनि वा अन्य धर्मात्मा जीवोंकी प्रशंसा सदा करते रहना चाहिये। तथा ऐसे बचन कभी नहीं कहने चाहिये जो अपनी प्रशंसा करनेवाले हों और दूसरकी निंदा करनेवाले हों। क्योंकि ऐसे बचन प्रायः मिथ्या ही होते हैं।

आगे अप्रिय वचनोंका निषेध करते हैं ।

यत्परस्य प्रियं पश्यमात्मनोपि तथाहि तत् ।

ततो मुधैव मत्योऽयं परस्याप्रियतत्परः ॥ ८७ ॥

अर्थ— जो वचन दूसरोंके लिये प्रिय और हितकारक होते हैं वे अपने लिये भी प्रिय और हितकारक होते हैं । इस लिये यह मनुष्य व्यर्थ ही दूसरोंको अप्रिय वचन कहनेके लिये तत्पर होता है ।

भावार्थ— जब दूसरोंके लिये प्रिय वचन कहनेमें अपना भी भला होता है तो फिर यह निश्चित है कि दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कहनेमें अपना अकल्याण अवश्य होगा । जब दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कहनेमें अपना ही अकल्याण होता है तो फिर दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कहना व्यर्थ है—कभी नहीं कहने चाहिये ।

आगे अप्रिय वचनोंसे आत्माका बड़ा भारी अकल्याण होता है ऐसा बतलाते हैं ।

यथा यथा परेष्येतत्स्वान्ते । वितनुते तमः ।

तथा तथात्मदीयोयं मन्दं मन्दं विमुद्धते ॥ ८८ ॥

अर्थ— अप्रिय वचन कहनेसे वैसे जैसे दूसरोंके हृदयमें अधेरा फैलता जाता है वैसे ही वैसे धीरे धरि यह अपने आत्माका स्वभाव भी मोहित होता जाता है ।

भावार्थ— अप्रिय वचन कहनेसे दूसरोंके हृदयमें चोट पहुँचती है क्षेग होता है और फिर वह प्रतिहिंसा करनेके लिये [चढ़लेमें दुःख पहुँचानेके लिये] तैयार होता है । उही उसके हृदयका अज्ञानांधकार है । जिस प्रकार यह अज्ञानांधकार दूसरोंके हृदयमें बढ़ता जाता है, अपना आत्मा भी मोहित होता जाता है । अपने आत्मामें भी अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते हैं । इसलिये दूसरोंके लिये अप्रिय वचन कभी नहीं कहने चाहिये सदा प्रिय मधुर और शास्त्रानुकूल हितकारक वचन कहने चाहिये ।

आगे कैसी भाषा माननीय समझे जाती है सो कहते हैं ।

भाषा नाम भवेन्मात्या यत्र यत्र प्रवर्तिता ।

मृषेष्यामिषद्वाद्येष्यदि न संश्रिता ॥ ८९ ॥

अर्थ——जो भाषा झूट, ईर्ष्या, कोष, हथ आदि दोषोंसे दूषित न हो वह भाषा चाहे जहाँ बोली जाय वहींपर वह माननीय समझी जाती है।

भावार्थ—जिस भाषामें कोष हृष्या आदि दोष होते हैं वह सब जगह बुरी समझी जाती है और जिसमें ये दोष न हों वह सब जगह अच्छी और मात्य गिनी जाती हैं। इसलिये दूषित भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये सदा निर्दोष भाषा ही बोलनी चाहिये ।

आगे ब्रह्मचर्य अग्रुतका स्वरूप कहते हैं ।

स्वदारनिरतो भव्यो नात्यारात्ममीहते ।

परस्तियोस्य भान्तीष माता मालुसुता सुता ॥ ९० ॥

अर्थ——जिसके स्वदारसंतोषका नियम है—जो अपनी स्त्रीको छोड़कर अन्य स्त्रियों की कभी इच्छा नहीं करता; जो परस्तियोंको माता बहिन और पुत्रीके समान देखता है उसके वह ब्रह्मचर्याणुत्रत कहलाता है।

भावार्थ——अपनी ही स्त्रीमें संतोष रखना—अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवाय अन्य बड़ी आयु वालियोंको माता के समान देखना, बराबर वालियोंको बहिनके समान देखना, और आनेसे होटी स्त्रियोंको पुत्रीके समान देखना, उन्हें देखकर कभी हृदयमें रिकार उत्पन्न न होना स्वदारसंतोष ब्रत है। इसीको ब्रह्माणुत्रत वा एक देश ब्रह्मचर्य कहते हैं। ग्रहस्थों वा श्रावकोंको यह ब्रह्माणुत्रत अवश्य धारण करना चाहिये। यह ग्रहस्थी की शोभा है, मनुष्यताका चिन्ह है और सदाचारका मूल कारण है ।

आगे वेश्या सेवनका त्याग करनेकिलिये कहते हैं ।

मद्यमांसरतां वेश्यां द्रुतः परिहापयेत् ।

फेलस्थालमिवदस्या इयमन् मर्वनिन्दितम् ॥ ९१ ॥

अर्थ— वेश्या मध्य मांसका सेवन करती है ; इसलिये उसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये । यह वेश्या सेवनका व्यसन उच्छिष्ट थालीके समान सब प्रकारसे निर्दित और बुरा है ।

भावार्थ— जिस प्रकार उच्छिष्ट थाली सर्वथा वृणित, निर्दित और दूरसे ही त्याग करने योग्य हैं, उसी प्रकार वेश्या भी अत्यंत वृणित, निर्दित, दूरसे ही त्याग करने से योग्य है । वेश्या सेवन करना मनुष्यताके बाहर है । वेश्या सेवन करनेवाला पशुसे भी नीच और बुरा गिना जाता है । उसे मध्य मांस सेवन करनेका दोष लगता है और फिर धीरे धीरे उसे मध्य मांस सेवन करनेका स्वयं भी अभ्यास हो जाता है । वह स्थान ही ऐसा है कि वहाँ जानेवाला किसी भी दोषसे बच नहीं सकता । इसलिये इसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ।

आगे हेतुपूर्वक ब्रह्मचर्यके पालन करनेका उपदेश देते हैं ।

यत्राहिंसादयः सर्वे वर्द्धन्ते पालिते सति ।

पालयन्त्येव तद् ब्रह्म ब्रह्मग्रिधाविशारदाः ॥ ९२ ॥

अर्थ— इस ब्रह्मचर्य व्रतके पालन करनेसे अहिंसा सत्य अचौर्य परिग्रह—परिमाण आदि सब व्रत वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये ब्रह्मचर्यके गुणोंको विशद रीतिसे जानेवाले चतुर मनुष्य इस श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यका पालन अवश्य करते हैं ।

भावार्थ— ब्रह्मचर्यके घात करनेमें अनंत जीवोंकी हिंसा होती है । त्रस जीवोंकी भी हिंसा होती है और स्थावर जीवोंकी भी हिंसा होती है । क्योंकि स्थियोंके कुच, योनि आदि अनेक स्थानोंमें समूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं; विषय सेवन करनेसे वे प्रब्रह्म भग्न जाते हैं और ब्रह्मचर्य पालन करनेसे उन सबकी रक्षा होती है । इसके सिवाय विषय सेवन करनेमें अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं; मोह और ममत्वकी अतिशय वृद्धि होती है । ब्रह्मचर्य पालन करनेसे वह सब झूट जाता है । और इस प्रकार पांचों ब्रह्मोंका पालन हो जाता है । इसलिये ब्रह्मचर्यके महत्वको जानेवाले चतुर

पुरुष मन वचन काय और वृत्त कारित अनुमोदनासे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं।

आगे ब्रह्मचारीको क्या क्या नहीं करना चाहिये सो कहते हैं।

स्मरसंदीपनेवृत्तैः स्मरसंदीपनैः रसैः ।

स्मरसंदीपनैः शास्त्रैः स्मरं नैव प्रदीपयेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ—कामके विकारोंको बढ़ानेवाली अपनी प्रवृत्तियोंसे, कामके विकारोंको बढ़ानेवाले रसोंसे और कामके विकारोंको बढ़ानेवाले शास्त्रों से कामके विकार कभी नहीं बढ़ाने चाहिये।

भावार्थ—बहुतसी प्रवृत्तियाँ और कर्तव्य ऐसे हैं जिनके करनेसे कामके विकार बढ़ते हैं। बहुतसे पौष्टिक रस ऐसे हैं जिनके खानेसे कामविकार बढ़ता है। बहुतसे शास्त्र ऐसे हैं जिनके पढ़ने सुननेसे कामविकार बढ़ता है। ब्रह्मचर्याणुव्रत धारण करनेवालोंको इन कामके विकार बढ़ानेवाले सब कामोंका त्याग कर देना चाहिये। उसे न तो ऐसे काम करने चाहिये, न ऐसे पौष्टिक रस खाने चाहिये और न ऐसे शास्त्र पढ़ने वा सुनने चाहिये।

आगे ब्रह्माणुव्रत पालन करनेके लिये और भी शिक्षा देते हैं।

हृथीरिव हुताशस्य नीरैरिव प्रयोनिधेः ।

दैवात्मसिर्भवेदेषां न पुसां विष्यामिष्यः ॥ ९४ ॥

अर्थ—धी आदि हव्य पदार्थोंसे अग्निकी तृसि कभी नहीं होती और पानीसे समुद्रकी तृसि कभी नहीं होती। कड़ाचित् किसी कारणसे इनकी भी तृसि हो जाय तो भी विषयोंकी लोलुपतासे मनुष्योंकी तृसि कभी नहीं होती।

भावार्थ—विषयोंकी लोलुपता ज्ञां ज्यों बढ़ती जाती है त्यों त्यों मनुष्योंकी इच्छाएं प्रबल होती जाती हैं। विषयोंके सेवन करनेसे वे इच्छाएं नष्ट नहीं होती किंतु दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती हैं। जैसे धी डालनेसे अग्नि बढ़ती है, कम नहीं होती। इस कामेच्छा वा कर्माग्रिको शांत करनेकेलिये संतोष ही प्रबल कारण है। संतोषरूपी

जलसे यह कामगिरी बहुत शीघ्र पांडि हो जाती है। इसलिये ब्रह्माणुब्रतियोंको सदा संतोष धारण करना चाहिये।

आगे इन विषयोंकी अवस्था दिखलाने हैं।

(प्रारम्भे मधुरास्त्रादा विष्णा विष्पश्चिभाः ।

ततोन्ते विपरीता ये तेषानाम् मुधा अमः ॥ ९५ ॥

अर्थ—ये विषय विषेश स्थान हैं। सेवन करते समय प्रारंभमें तो अच्छे और मधुर जान पड़ते हैं परन्तु अन्तमें विपरीत फल देते हैं। इसलिये इनमें सुखका अम करना अर्थ है।)

भावार्थ—जिस प्रकार दालके रोगीको दाद खुजाते समय अच्छा लगता है परन्तु खुजानेसे उस दालमेंसे खून बरसने लगता है और दाद बढ़ जाता है। उसी प्रकार विषय भी सेवन करते समय अच्छे लगते हैं परन्तु अन्तमें उनके फलसे बरक निगोदके भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं। विष भी खानेमें पीछा लगता है परन्तु मनुष्य मर ही जाता है। इसी प्रकार विषय भी सेवन करते समय अच्छे लगते हैं परन्तु अंतमें उनके फलसे अनेक संसारमें परिव्रमण करना पड़ता है। इसलिये विषय सेवनका त्याग कर देना ही आत्माको सुख पहुंचानेवाला है।

आगे झटके दिखावेके अलोसे कुछ फल नहीं होता यह बात दिखलाने हैं।

वहिस्तत्त्वं तपस्तन्त्रन् स्थान्ते मदनदोहदः ।

वेष्व्रती न निर्वाति याकृद्वावं न संश्रयेत् ॥ ९६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य वाहरसे गंकक तत्त्वोंका चित्तवन करता है, तपश्चरण करता है परन्तु जिसके काम सेवनकी इच्छा विद्यमान है ऐसा छल कपटको धारण करनेवाला ढोंगी मुनि वा व्रती जब उसकि उत्तम भावों को धारण नहीं करता तब तक वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—मोक्ष वा सुख दुःखका कारण परिणाम है। अशुभ परिणाम दुःखका कारण है, शुभ परिणाम सुखका कारण है और शुद्ध परि-

णाम मोक्षका कारण है। जिस मनुष्यके हृदयमें काम सेवन की इच्छा है वह बाहरसे चाहे जितने व्रत पाल्य करे, चाहे जितना तप करे और चाहे जितने ऊंगी ढोए वजावे; उसवें परिणाम कभी शुद्ध वा शुभ नहीं हो सकते। जहाँ जड़ा काम सेवनका इच्छा होती है वहाँ वहाँ नियमसे अशुभ परिणाम ही होते हैं। और जिसके अशुभ परिणाम होते हैं उसे कभी सांसारिक सुख भी नहीं मिल सकता; मोक्ष सुख की बात तो दूर है। वह तो कभी मिल ही नहीं सकता। इसलिये इस विषय वासनाको हृदयसे निकाल डालना ही चाहिये। विषयवासनाको हृदयसे निकालकर और मनको शुद्ध कर फिर जप तप व्रत आदि करना चाहिये। विना मनको शुद्ध किये तप जप करना सब व्यर्थ है।

आगे यह कामाग्नि क्या क्या ज्ञानि करती है सो दिखलाते हैं।

स्वाध्यायध्यानधर्मधान् यो। दहत्येव निर्दयम् ।

दूरं दूरं सदा हेयो मैरवो हि स्मरानलः ॥ ९७ ॥

अर्थ—यह कामरूपी अग्नि बड़ी ही भयंकर है। स्वाध्याय ध्यान और धर्मरूपी ईधनको तो यह बड़ी हो बुरी तरहसे जला देती है। इसलिये इस कामरूप अग्निको बड़ी दूरसे ही सदा केलिये छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ—जिसके हृदयमें कामवासना होती है वह कभी स्वाध्याय और ध्यान नहीं कर सकता और न वह धर्मधारण कर सकता है। इसलिये धर्मात्मा पुरुषोंको स्वाध्याय और ध्यानमें अपना मन लगानेके लिये विषयवासनाका त्याग सदा केलिये कर देना चाहिये।

आगे ब्रह्माणुत्रियोंको क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

स्मरं दोषास्पदं बुद्ध्वा स्त्रश्वीमनवदाश्रयेत् ।

देहदाहोपशान्त्यर्थं दुर्ध्यानश्यापि हानये ॥ ९८ ॥

अर्थ—इस कामवासनाको अनेक दोषोंका स्थान समझकर शरीरका दाह शांत करनेके लिये और अशुभ ध्यानको दूर करनेके लिये अन्नके समान केवल निवाहिता स्त्रीका सेवन करना चाहिये।

भावार्थ—कामवासनासे शरीर चलता रहता है और हृदयमें अनेक अशुभ विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इस दोनोंको शांत करनेकेलिये अर्थात् शरीरकी जलनको शांत करनेकेलिये और अशुभ ध्यान दूर करनेकेलिये माता पिता गुरु अग्नि आदिकी साक्षोपूर्वक विवाहिता स्वस्त्रीका सेवन करना चाहिये और वह भी अन्नके समान परिमित सेवन करना चाहिये। जिस प्रकार अधिक अन्नके ग्रहण करनेसे अजीर्णता आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं और अंतमें उसे मृत्युके मुख पड़ना पड़ता है उसी प्रकार स्वस्त्रीमें भी अधिक लोलुप्ता रखनेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अंतमें वह मृत्युके मुखमें पड़ता है और परम-वमें नरक निगोदके अनंत दुःख भौगता है। इसलिये कामवासनाकी अधिक लोलुप्ता कभी नहीं करनी चाहिये। इस लोलुप्ताका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे परस्ती क्या दुःख देती है सो बतलाते हैं।

परस्ती हृदये यस्य तप्तभल्लीह संस्थिता ।

सोन्तर्देदद्यते पीतैस्तैस्ताम्भवैरिव ॥ १३ ॥

अर्थ जिस प्रकार गलाया हुआ पतला तांवा पीनेसे हृदय भीतर ही भीतर जल जाता है अथवा हृदयमें धुसेडा हुआ बहुत गर्म बाण हृदयको भीतर ही जला देता है वा रुग्या हुआ गर्म भिलावा भीतर ही भीतर हृदयको जला देता है। उसी प्रकार गर्म किये हुए वाणके समान अथवा तपाये हुए तांवेके समान परस्ती जिसके हृदयमें विद्यमान है उसका हृदय भीतर ही भीतर जला करता है।

भावार्थ—परस्तीमें आसक्त रहनेवाला पुरुष सदा हृदयके भीतर जला ही करता है। उसे क्षण भरकेलिये भी मुख नहीं मिलता। इसलिये अपने हृदयको परस्तीकी ओर कमी नहीं जाने देना चाहिये। उसे सब ओरसे खींचकर अपने आत्मामें ही लगाना चाहिये।

आगे विषयवासनासे बुद्धि भी नष्ट हो जाती है यह दिखलाते हैं।

मन्दायते मतिर्याति सद्यः परमवैदुषी ।

मदनेन मदेनैव मोहितस्य गदे पदे ॥ १०० ॥

अर्थ—जो पुरुष अभिमानके सभान कामवासनासे मोहित हो जाता है उसकी बहुत तीव्र बुद्धि भी पदपदपर मंद हो जाती है अथवा वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—जो पुरुष अभिमान करता है—अभिमानकी अकड से दूसरोंको कुछ नहीं समझता उसकी तीव्र बुद्धि भी बेकार वा नष्ट हो जाती है। फिर वह अपना कार्य सोचविचार कर नहीं कर सकता। इसी-प्रकार जिसका हृदय कामवासनासे प्रोहित हो जाता है उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। वह मनुष्य भी अपने काम सोच विचार कर नहीं करता। इसलिये आवकोंको यह कामवासना हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये।

आगे परम्परी सेवनका फल दिखलाते हैं।

बलान्परैनिषेठ्यन्ते मातृस्वस्त्रूसुतादयः ।

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाराते फलम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो अन्य पुरुष अपनी माता बहिन पुत्री आदिको बलात्कार सेवन कर लेते हैं वह अपनेलिये पहिले जन्ममें परम्परियोंके सेवन करने का फल ही समझना चाहिये।

भावार्थ—जो पुरुष परम्परी सेवन करते हैं, परजन्ममें उनकी माता बहिन पुत्री आदिको भी दूसरे लोग कलात्कार सेवन करते हैं। अथवा जिसने पहले जन्ममें परम्परी सेवन किया था उसके बदले इस जन्ममें उसकी मा बहिन पुत्री आदिको अन्य लोग बलात्कार सेवन करते हैं। यह पहिले जन्मके परम्परी सेवनका ही फल है। इसलिये इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें सुख चाहने वालोंको अपनी प्रतिष्ठा और लज्जा रखनेवालोंको परम्परी सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

आगे कामवासनाकी कोई औषधि नहीं है ऐसा दिखलाते हैं ।

(अन्तिर्विधाप्यते नीरैरातपर्वर्वेः प्रभा ।

मनोभूतन्हितसानामौषधं जास्ति सर्वथा ॥ १०२ ॥

अर्थ— इस संसारमें अग्नि पानीसे बुझ जाती है । और सूर्यकी धूप छत्र वा छतरीसे शांत हो जाता है परंतु कामरूपी अग्निसे संतप्त हुए मनुष्योंके लिये इस संसारमें कोई औषधि नहीं है ।

भावार्थ— इस संसारमें सब रोगोंकी औषधि है, सब दुःखोंके उपाय हैं । सबको जला देनेवाली अग्नि भी पानीसे बुझ जाती है, भूमंडल पर व्यास होनेवाला सूर्यका तेज भी छतरीसे रुक जाता है । परंतु जिसका हृदय कामरूप अग्निसे संतप्त हो रहा है, जो कामवासनासे जल रहा है उसके लिये संसारभरमें कोई औषधि नहीं है । यह रोग किसीसे नहीं मिट सकता । इसलिये हृदयमें इस रोगको उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिये । उत्तम सुखकी प्राप्तिका यही एक उपाय है ।

आगे परस्तीमें आसक्त होनेवाला मनुष्य अंधा, बहरा हो जाता है यह दिखलाते हैं ।

न पश्यति सनेत्रोपि सश्रोतोपि न सश्रुतिः ।

परस्तीरूपमरेयमोहमोहितमानसः ॥ १०३ ॥

अर्थ— जिसका हृदय परस्तीके सुंदर रूपरूपी मद्यके मोहसे मोहित हो रहा है वह नेत्र सहित हीनेपर भी नहीं देखता और कान रहते हुए भी नहीं सुनता ।

भावार्थ—जिस प्रकार मद्यके गशोसे बेसुध हुआ मनुष्य न तो अन्य मद्य पीनेवालोंकी दुर्दशा देखता है और न हितकी बात सुनता है । उसी प्रकार परस्तीके रूपमें आसक्त हुआ मनुष्य भी न तो परस्तियों में आसक्त होनेवाले अन्य मनुष्योंकी दुर्दशा देखता है और न उससे प्राप्त होनेवाले परस्तीके दुःखोंकी बात सुनता है । इस प्रकार आंख कान रहते हुए भी वह एक प्रकारमें अंधा और बहिरा हो जाता है । इसलिये

परस्तीमें आसक्त कभी नहीं होना चाहिये । परस्ती सेवनका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ।

आगे भावोंके अनुसार ही फल होता है ऐसा दिखलाते हैं ।

भावेनैव तदर्थानां सांप्रतात्मोत्थाविनाम् ।

परस्तियामभावेषि परस्तीरतिगैष्यते ॥ १०४ ॥

अर्थ—यदि वर्तमानमें परस्ती विख्यान न हो तो भी वर्तमान कालमें जिन परस्तियोंमें मन लग रहा है अहिले जिन परस्तियोंमें मन लगा था अथवा आगामी कालमें जिन परस्तियोंमें आसक्ति होनेकी संभावना है ऐसी परस्तियोंके हाव भाव विलासोंका चिंतवन करना भी परस्तीसेवन ही गिना जाता है ।

भावार्थ—यदि भावोंमें-परिणामोंमें परस्ती सेवनकी लालसा हो परस्तियोंके हाव भाव विलासादिकोंका इसी चिंतवन करता रहता हो तो उसमें भी परस्ती सेवनके समान ही दोष लगता है । क्योंकि ऐसे पुरुषका हृदय-परिणाम सदा अशुभ और पापमय ही बना रहता है । इसलिये परस्तीकी लालसा वा उनके हाव भाव कठाक्षादिकोंका चिंतवन भी कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे परस्तीलोलुपी क्या करता है सो दिखलाते हैं ।

मलिनां व्याधितां शृङ्गां विरुद्धां निवदर्शनाम् ।

परस्तीं रमते पापी हित्वा स्वां रतिसन्निभाम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—परस्तीमें आसक्त रहनेवाला पापी मनुष्य रति के समान अपनी अत्यंत सुंदरी स्त्रीको तो छोड़ देता है और जो मलिन है, अनेक रोगोंसे पीड़ित है, बूढ़ी है, कुरुपा है और जो देखनेमें भी घिनाक्वनी और बुरी लगती है ऐसी परस्तीका सेवन करता है ।

भावार्थ—परस्ती सेवन करनेवाला अंग हो जाता है । जिस प्रकार आत्मकल्याणकी ओर नहीं देखता उसी शक्तार उसे सुंदरता वा सुंदरताका

ज्ञान भी नहीं रहता वह सब भूल जाता है। इसलिये परस्तीकी आस-
कृता ही छोड़ देनी चाहिये।

आगे परस्तीकी बात भी बुरा है ऐसा दिखलाते हैं।

वृद्धो वहुश्रुतो मान्यः सर्वविद्याविभूषितः ।

परस्तीवात्यापीह धत्ते दोषपरंपराम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो वृद्ध है, बहुत ही अनुभवी है, जिसे सब मानते हैं
और जो सब प्रकारकी विद्याओंसे सुशोभित है ऐसा बड़ा पुरुष भी
केवल परस्तीकी बात चीत करने मात्रसे इस संसारमें अनेक दोषोंको
धारण कर लेता है।

भावार्थ—परस्तीके विषयमें बात चीत करना भी बुरा है केवल
बात चीत करने मात्रसे ही अनेक दोष लग जाते हैं फिर भला उसके
सेवन करनेसे तो दोषोंका ठिकाना ही क्या है। इसलिये परस्तीके
विषयमें कभी बात चीत भी नहीं करनी चाहिये और सेवन करनेका
तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे ब्रह्मचर्यकी महिमा दिखलाते हैं।

विश्वत्रये महामान्या विश्वत्रयमहेश्वराः ।

विश्वत्रयद्विसम्पन्नाः स्युरुं ये ब्रह्मभूषिताः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो लोग ब्रह्मचर्यसे सुशोभित होते हैं ब्रह्मचर्यका पालन
करते हैं वे तीनों लोकोंमें महामान्य समझे जाते हैं—वे तीनों लोकोंके
सर्वश्रेष्ठ ईश्वर होते हैं और उन्हें तीनों लोकोंकी समझ ऋद्धियाँ प्राप्त
होती हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यकी अपार महिमा है। संसारके समस्त सुख, वृद्धिरुप
और विभूतियाँ आदि सब ब्रह्मचर्यमें ही प्राप्त होती हैं। ब्रह्मचारीकी इंद्र
भी सेवा करता है; औरोंकी तो बात ही क्या है। इसलिये ब्रह्मचर्यका
पालन अवश्य करना चाहिये।

आगे ब्रह्मचर्यकी महिमा और भी दिखलाने हैं।

प्रेयोदार्यमहश्चर्यसोदर्यबहुवीषिताः ॥

भवन्ति ब्रह्माहात्म्यात् ब्रतमूतात्मनां सताम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—जिनका आत्मा ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे पवित्र हैं ऐसे सज्जन लोगोंको इस ब्रह्मचर्यके नाहात्म्यसे धीरता, उदारता, महाविभूतियां सुंदरता और महाशक्तियां प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यके प्रतापसे अच्छे सब गुण प्राप्त हो जाते हैं और उत्तमसे उत्तम विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये श्रावकोंको मन बचन कायसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये।

आगे परिग्रह परिमाणवत्तको कहते हैं।

भूमिर्वास्तु धनं धान्यं बस्त्रादि शयनासनम् ॥

द्विपदाः पशुरत्नादि वाह्योऽयं दशधोपधिः ॥ १०९ ॥

अर्थ—खेत १ मकान २ धन ३ धान्य ४ वस्त्र आदि घरका सामान ५ पलंग विछोला आदि सोर्जिका सामान ६ कुरसी दरी आदि बैठनेका सामान ७ दास दासी ८ गाय भैंस आदि पशु ९ और रत्न १० ये दश प्रकारके बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। इनका परिमाण करना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है।

भावार्थ—जन्मभरकेलिये धनधान्यादिका परिमाण कर लेना परिग्रह-परिमाण अणुव्रत है। तृष्णारूपी अभिको बुझानेकेलिये यह शीतल जलके समान है। संतोषी गृहस्थोंको यह अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे इन परिग्रहोंका मूल कारण बतलाते हैं।

मिथ्या लोभः पदार्थेषु फलोपधिरयं मतः ।

यस्यैतं पह्लवा भान्ति बहुरूपा मनोरथाः ॥ ११० ॥

अर्थ—संसारके सम्पत्ति पदार्थोंमें मिथ्या लोभ करना मूल परिग्रह है-सब परिग्रहोंका कारण है। प्रत्येक प्राणीके हृदयमें जो अनेक प्रकारके मनोरूप उठते हैं वे सब इसी मूलके बांते हैं।

भावार्थ—लोभ सब परिहर्ता की जड है। लोभसे तृष्णा, और तृष्णासे सब परिह होते हैं। इसलिये परिहर्ता परिमाण व्रत धारण करनेके लिये सबसे पहिले लोभका त्याग करना चाहिये। लोभ सब पापोंकी जड है— सब पाप लोभसे ही होते हैं और लोभका त्याग कर देनेसे सब पाप शांत हो जाते हैं। अतएव लोभका त्याग करना अत्यावश्यक है।

आगे अभिलाषाका त्याग कराते हैं।

परद्रव्याभिलाषेषु यावन्मात्रं प्रवर्तते ।

तावन्मात्रं पुमान् धत्ते पापास्त्रवमहामलम् ॥ १११ ॥

अर्थ— यह जीव जितनी देरतक परद्रव्योंकी अभिलाषा करता रहता है उतनी ही देरतक यह जीव पापोंके आस्रवसे आनेवाले कर्मरूप महा मैलको धारण करता रहता है।

भावार्थ—लोभसे अभिलाषा उत्पन्न होती है। अभिलाषासे पाप कर्मोंका आस्रव होता है। और उन पाप कर्मोंके उदयसे इस जीवको संसारमें अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये अभिलाषा वा इच्छाका त्याग करदेना सबसे उत्तम है।

आगे परिमाण करनेका उपदेश देते हैं।

मितं मितं ततः सर्वं वस्तु डेमादि संश्रयेत् ।

नियमेन विना विश्वमात्मकात्तनुते मनः ॥ ११२ ॥

अर्थ—ऊपर कह चुके हैं कि पदार्थोंकी इच्छा करनेसे पाप कर्मोंका आस्रव होता है। इसलिये सोना चांदी धन धन्य आदि सब पदार्थोंको परिमाण कर ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि विना नियमके यह मन समस्त संसारको अपना बनार्जिका प्रयत्न करता है।

भावार्थ—पनकी इच्छा और लोभकी मात्रा बड़ी ही प्रबल है। ज्यों ज्यों धनकी प्राप्ति होती जाती है त्यों त्यों वह इच्छा और बढ़ती जाती है। तथा बढ़ते बढ़ते वह समस्त संसारके धनको अपना करका लाहती है। उस इच्छाकी बाढ़को रोकनेके लिये परिप्रहरोंका नियम कर लैजा-

ही प्रबल किला है। मजबूत किलेके भीतर कोई शत्रु नहीं आसकता। उसी प्रकार नियम करलेने पर—परिग्रहोंका परिमाण कर लेनेपर संसार भरके धनको अपना कर लेनेवाली इच्छा उत्पन्न नहीं होती। नियम कर लेने-से इच्छा और लोभ सब रुक जाता है तथा ममता वा भोग भी परिमित हो जाता है। इसलिये प्रत्येक आवकको परिग्रहोंका परिमाण अवश्य कर लेना चाहिये।

आगे परिग्रहोंकी इच्छा करना व्यर्थ है ऐसा दिखलाते हैं।

देहोयं सहसंभृतिः सोप्येष नर्जिं शाश्वतः।

बाह्यास्तु द्रव्यदारादिपदार्थाः सर्वथा वृथाः ॥ ११३ ॥

अर्थ—यह शरीर इस पर्यायिके सम्बन्ध उत्पन्न होता है परंतु फिर भी यह सदा विद्यमान नहीं रहता; आश्वय ही नष्ट होता है। जब साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर ही नहीं ठहरता तो फिर वह धान्य और पुत्र आदि बाह्य पदार्थ तो सर्वथा व्यर्थ हैं।

भावार्थ—धन धान्य आदि पदार्थ औ सर्वथा अल्पा हैं। जब साथ साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर ही नहीं ठहरता है तो फिर सर्वथा अलग रहने वाले धन धान्यादिक पदार्थ कैसे ठहर सकते हैं। इसलिये इनकी इच्छा करना, इनके उपार्जनकेलिये अनेक प्रकारके पाप करना तथा अनेक प्रथल कर इनकी रक्षा करना आदि सब व्यर्थ है। यदि ये पदार्थ कुछ दिन तक ठहरें तब तो इनकेलिये प्रथल करना सार्थक भी हो। परंतु ये तो ठहरते ही नहीं। इसलिये इनकेलिए कभी प्रथल नहीं करना चाहिये।

आगे संतोषका फल दिखलाते हैं।

ग्रासेये न प्रमाद्यन्ति न दूयन्तेऽयथा स्थिते।

तेषां सर्वाः श्रियो नित्यं दास्यभावं वितन्वते ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो पुरुष धन धान्य आदि पदार्थोंके प्राप्त होनेपर प्रमाद नहीं करते। और धन धान्य आदि के चले जानेपर अथवा प्राप्त न होनेपर

खेद नहीं करते। उनके धरमें सा प्रकारकी लक्ष्मी सदा दासी बनकर रहा करती है।

भावार्थ-धन पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिये। वहुतसे लोग धन पाकर धर्मको भूल जाते हैं; यह उनकी भूल है। धन धर्मसे ही प्राप्त होता है। पहिले जन्ममें किये हुए धर्मसे यह धन इस जन्ममें प्राप्त हुआ है। और यदि अब धर्मका पालन करेंगे तो आगेके जन्ममें भी धन प्राप्त होगा। इसलिये धन पाकत और अधिक धर्म साधन करना चाहिये। क्योंकि एक तो उन्हें धर्मका प्रत्यक्ष फल मिल रहा है। दूसरे धनी आदमियोंको ही धर्म साधन करनेका अधिक सुभीता मिलता है। इसलिये धनों आदमियोंको धर्म साधन करनेमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। तथा यदि अशुभ कर्मके उदयसे वह धन नष्ट हो जाय, राजा छीन ले, चोर ले जाय, आगमें जल जाय या पानीमें वह जाय—किसी तरह नष्ट हो जाय तो खेद नहीं मानना चाहिये। क्योंकि कर्मोंका उदय किसीसे रोका नहीं जा सकता। वह अवश्य अपना फल देता है। इस प्रकार जो युरुष हर्ष विषाद नहीं करता, सदा समता वा संतोष धारण करता है उसके अशुभ कर्म सब नष्ट हो जाते हैं; शुभ कर्मोंका विशेष बंध होता है और फिर उन शुभ कर्मोंके उदयसे लक्ष्मी सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती है—किसी न किसी रूपसे सदा उसकी सेवा किया करती है। इसलिये श्रावकोंको संतोष व्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे ममत्वका फल पाप है। ऐसा दिखलाते हैं।

महामोहात्प्रवर्द्धन्ते स्वैः स्वैरं मनोरथाः ।

महापापास्ववादन्यत्तेषां नास्ति फलं परम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—संसारके समस्त पद्धार्थोंमें मोह वा लोभ उत्पन्न होनेसे अनेक प्रकारके मनोरथ अपने आप बढ़ते रहते हैं और उन मनोरथोंका सबसे उत्तम फल महा पापरूप कर्मोंके आस्त्रवके सिवाय और कुछ नहीं होता।

भावार्थ—यह जीव जो संसारके समस्त पदार्थोंमें मोह करता है उससे अनेक प्रकारकी इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। इच्छाएं सब मोहकी ही पर्याय हैं। जहाँ जहाँ मोह होता है वहाँ वहाँ इच्छाएं अवश्य होती हैं। और जहाँ जहाँ इच्छाएं होती हैं वहाँ वहाँ घोर पाप कर्मोंका आस्रव अवश्य होता है। ऐसी कोई इच्छा नहीं है जिसके उत्पन्न होनेपर पाप कर्मोंका आस्रव न होता हो। इस प्रकार मोह वा इच्छाओंका फल पाप कर्मोंका आस्रव ही है जो कि अनंत संसार और अनंत दुःखोंका कारण है। इसलिये मोह वा इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आगे इच्छाके दोष और भी बतलाते हैं।

धनधान्ययुतस्यापि धर्मध्यानं निरंतरम् ॥

पापास्रवनिमित्तानि यदेते न मनोरथाः ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो पुरुष खूब धनी है, जिसके धन धान्य आदि विभूतियाँ अत्यंत विद्यमान हैं यदि उसके पाप कर्मोंके आस्रवको उत्पन्न करनेवाले मनोरथ न हो तो वह भी सदा धर्मध्यान कर सकता है।

भावार्थ—धनके होनेसे धर्म ध्यानमें कोई रुकावट नहीं होती। धनी मनुष्यके जीविका चलानेवाले बहुतसे मनुष्य रहते हैं। इसलिये उसे धर्म सेवन करनेकेलिये और अधिक सम्प्र मिलता है तथा सब सुभीते मिलते हैं। इस प्रकार वह धर्म सेवन बहुत ही अच्छी तरह कर सकता है। परंतु और अधिक धन कमानेकेलिये उसकी जो लालसा बढ़ती रहती है और अनेक प्रकारके घोर पाप कर्मोंका बंध करती रहती है वही लालसा उस धर्मसेवनमें बाधा डालती है। उस लालसाके वशीभूत होकर वह धनी रात दिन अपध्यान करने और धन कमानेमें लगा रहता है। इसीलिये वह धर्मसेवन नहीं कर सकता। यदि वह लालसाका त्याग कर दे तो सब समय उसे धर्म सेवनकर्त्तिये ही मिल जाय। तथा लालसाका त्याग कर देनेसे कुछ हानि भी नहीं होती क्योंकि धनकी

मृदि लालसा से नहीं होती किंतु शुभ कर्मोंके उदयसे होती है । इसलिये श्रावकोंको लालसा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

आगे मनोरथोंके लिये और भी कहते हैं ।

मिथ्या रथा रथा नूनं निर्द्धनानां मनोरथाः ।

संसारमरुविस्तारबहुआन्तिनिवंधनम् ॥ ११७ ॥

अर्थ—निर्धन लोगोंकी इच्छाएँ भी झूठीं इच्छाएँ हैं और उनके मनोरथ वा लालसाएँ संसाररूपी मङ्ग मरुस्थलमें परिग्रिमण करनेके कारण हैं ।

भावार्थ—कदाचित् कोई यह कहे कि थनी लोगोंकी इच्छाएँ वा लालसाएँ तो व्यर्थ नहीं हैं क्योंकि उन्हें तो धनकी आवश्यकता है । परंतु यह बात भी ठीक नहीं है । क्योंकि पहले कह चुके हैं कि धनकी प्राप्ति शुभ कर्मोंके उदयसे होती है । लालसाओंसे नहीं । इसलिये उसकी इच्छाएँ भी सब झूठी हैं; केवल पाप कर्मोंका बंध करनेवाली हैं और अनंत संसारमें परिग्रिमण करनेवालोंहैं । इसलिये निर्द्धनियोंको भी कभी लालसाएँ नहीं करनी चाहिये । लालसाओंका त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिये ।

आगे अंतरंग परिग्रहोंके त्याग करनेके लिये कहते हैं ।

मिथ्यात्ववेदहास्यादिरोप्रभृतयस्तथा ।

सर्वदोषमया मध्याद्रीयन्ति शुद्धबुद्धिभिः ॥ ११८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुंजद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कोध, मान, माया, लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह हैं । ये अंतरंग परिग्रह समस्त दोषोंसे भरपूर हैं इसलिये शुद्ध बुद्धि धारण करनेवाले श्रावकोंको अपने हृत्यसे इनको अवश्य निकाल ढालना चाहिये ।

भावार्थ—ये अंतरंग परिग्रह बहिरंग परिग्रहके कारण हैं । ममता वा मोहके ही ये सब विकार हैं । इसलिये इनके त्याग करनेका प्रयत्न

१ ‘सर्वधोपधयो’ ऐसा भी पाठ है ।

अवश्य करना चाहिये । इनके त्याग कर देनेसे बहिरंग परिहोंका त्याग वा परिमाण सहज गीतीसे हो जाता है ॥

आगे इन अतरंग परिहोंकेलिये और भी कहते हैं ।

मानमायामदासुयाविद्वेषभयसम्पदास् ।

द्रव्यार्थं निदानं स्यादिपदामेव दुर्मतिः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दुर्बुद्धि समस्त आपत्तियोंकी कारण है उसी प्रकार धन प्राप्त करनेकी इच्छा, मान माया मत्त निंदा द्वेष भय धन संपत्ति आदि सबकी कारण है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बुद्धिक विषीत हो जाने पर अनेक प्रकारकी विपत्तियां अपने आप आजाती हैं उसी प्रकार द्रव्यकी इच्छा होने पर मान छल कपट मद निंदा द्वेष भय आदि सब दोष अपने आप आजाते हैं । अतएव द्रव्य प्राप्त होनेकी इच्छा करना ही बुरा है । बुद्धिमानोंको कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे लोभी पुरुष कभी तृप्त नहीं होने यह दिग्वलाने हैं ।

न तुमा नैव तुप्यन्ति लोभान्ता हि महाधनैः ।

स्फारेष्पि न पूर्यन्ते नदीपूर्षैः पश्योधयः ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस प्रकार समुद्र नदीके बडे भारी पूरोंसे भी कभी तृप्त नहीं होता उसी प्रकार लोभसे अंधे हुए मनुष्य बडे भारी धनके प्राप्त हो जानेपर भी न कभी तृप्त हुए हैं और न कभी तृप्त हो सकते हैं ।

भावार्थ—मनुष्यकी तृप्ति धनसे नहीं होती है । धनसे लालसा बढ़ती है । जैसा जैसा धन बढ़ता जाता है वैसी ही लालसा भी बढ़ती जाती है । तृप्ति आत्माका स्वभाव है । वह बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं हो सकती । वह आत्मासे ही उत्पन्न होती है और संतोष गुणसे प्रगट होती है । इसलिये तृप्त और परम सुखी होनेकेलिये प्रत्येक श्रावकको संतोष धारण करना चाहिये । संतोषके बिना कभी कितीको सुख नहीं मिल सकता ।

आगे धनकी निंदा कहते हैं ।

प्रयासैर्धनमादते प्रयासैद्वद्विते धनम् ।

प्रयासः पाल्यते नूनं यत्प्रयासमयं धनम् ॥ १२१ ॥

भावार्थ—इस संसारमें परिश्रमसे ही धन कमाया जाता है, परिश्रमसे ही बढ़ाया जाता है और परिश्रमसे ही सुरक्षित रखा जाता है। इसका भी कारण यह है कि धन परिश्रमलूप ही है ।

भावार्थ—विना परिश्रमके न तो धन कमाया जाता है और न उसकी रक्षा की जा सकती है। इससे सिद्ध होता है कि धन परिश्रम रूप ही है। परिश्रमसे भिन्न नहीं है। तथा परिश्रम दुःखरूप है क्योंकि परिश्रम करनेमें दुःख होता है। सुखी वा अमीर परिश्रमसे डरते हैं। इस तरह यह भी सिद्ध हो जाता है कि धन भी दुःखरूप है। क्योंकि दुःखसे ही कमाया जाता है, दुःखसे ही बड़ता है और दुःखसे ही रक्षित रखा जाता है। तथा दुःखसे अला रहना वा दुःख और दुखोंके साधनोंका त्याग कर देना सुख है। इसलिये सुख चाहनेवालोंको धनसे ममत्व हटाये दिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता ।

आगे परिग्रहपरिमाणके दोष टिक्कलाते हैं ।

भूमिवास्तुधनादीनां प्रभिर्ते यो निवर्तते ।

नियमातां महालोभात्तद् ब्रतं तस्य हीयते ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तीव्र लोभके कारण नियम किये हुए खेत, मकान धन आदि बाह्य परिग्रहके परिमाणका उल्लंघन करता है या उसे छोड़ देता है उसके बहु परिग्रहपरिमाणवत् नष्ट हो जाता है या मलिन हो जाता है ।

भावार्थ—परिग्रहका परिमाण कर फिर उस नियमको भंग नहीं करना चाहिये। जो ब्रत धारण किए गए हैं उसे निर्दोष पालन करना चाहिये। इस प्रकार पांचों अणवतोंबत वर्णन समाप्त हुआ ।

आगे दिग्ब्रतका स्वरूप कहते हैं ।

नियमात्स्थापिता सीमा दशानामपि या दिशाम् ।

नैव तामतिवर्तन्ते ये दिशां विरेतौ स्थिताः ॥ १२३ ॥

अर्थ—दशों दिशाओंकी जो नियमपूर्वक जन्मभरकेलिये सीमा नियत करली है उसका फिर कभी उल्लंघन नहीं करना दिग्विरति नामका गुणव्रत कहलाता है ।

भावार्थ—जन्म भरकेलिये प्रभिञ्च देश नदी पर्वत वन आदिकी सीमा नियत कर दशों दिशाओंकी मर्षादा नियत कर लेनी चाहिये । और फिर आजन्म कभी उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिये । इसको दिग्ब्रत अथवा दिग्विरति व्रत कहते हैं । यह अणुव्रतोंके गुणोंको बढ़ाता है । इसके पालन करनेसे अहिंसा आदि अणुव्रत और अधिक रीतिसे पलते हैं । इसलिये इस व्रतको गुणव्रत कहते हैं ।

आगे इस दिग्ब्रतसे होनेवाला लाभ बतलाते हैं ।

(पूर्वादीनां दिशां व्यूहे यानमानविधायिनाम् ।

महाव्रतं भवेत्तेषां तत्परं विरतात्मनाम् ॥ १२४ ॥)

अर्थ—जो श्रादक दिग्ब्रत धारण कर लेते हैं । पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओंके जाने आने अथवा निवास करनेका नियम कर लेते हैं । फिर वे उस नियत की हुई सीमासे आगे नहीं जा सकते न आगे जाकर निवास कर सकते हैं । इसलिये उनके सीमासे बाहर महाव्रतके समान यह व्रत हो जाता है ।

भावार्थ—सीमाके बाहर वह श्रावक न तो जाता है न वहाँ रहता है और न वहाँसे किसी प्रकारका व्यापार करता है । सीमाके बाहर उससे किसी प्रकारका शाप नहीं हो सकता । स्थूल, सूक्ष्म दोनों प्रकारके पाप छूट जाते हैं । इसलिये उसके अणुकृत सीमाके बाहर महाव्रतके समान हो जाते हैं । प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे वे महाव्रत तो होते नहीं परंतु महाव्रतके समान अवश्य हो जाते हैं ।

आगे देशव्रतको कहते हैं।

तथा देशेषु सर्वेषु पापारम्भनिवृत्तये ।

मर्यादा प्रविधातव्या यानस्थानव्यवस्थिते ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दिग्ब्रत अन्म भरकेलिये किया जाता है उसी प्रकार देशव्रत कुछ नियत कालकिलिये किया जाता है और वह दिग्ब्रतके भीतर छोटी सीमा नियत कर किया जाता है। यही बात इस लोकमें दिखलाते हैं। सब देशोंमें जाने और निवास करनेकी व्यवस्था में वा अन्य व्यवहार चलानेमें पापरूप आरंभका त्याग करनेकेलिये सीमा नियत कर लेनी चाहिये ॥

भावार्थ—पर्वके दिन वा चातुर्मासमें अथवा और किसी दिन किसी घंत गली घर गांव आदिकी एक दिन दो दिन महीने दो महीने आदिकेलिये सीमा नियत कर उतने समय तक उस सीमाके बाहर न जाना देशव्रत है। यह व्रत भी सीमावत बाहर पायोंका त्याग करनेकेलिये है और श्रावकोंको अवश्य वारण करने चाहिये ।

आगे इसीका विशेष वर्णन करते हैं ।

सर्वमांसाशिवासेषु धर्मशोलापहारिषु ।

साधुतीर्थादिहीनेषु नैव देशेषु संवसेत् ॥ १२६ ॥

अर्थ—जिस देशमें सर्व लोग मांस खानेवाले ही निवास करते हों, जिस देशमें धर्म और शीलको अपहरण करनेवाले निवास करते हों और जिस देशमें कोई साधु त्यागी न हो, जिस देशमें कोई तीर्थक्षेत्र न हो ऐसे देशमें कभी निवास नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—श्रावकोंको ऐसे देशमें निवास करना चाहिये जहाँ प्रतिदिन धर्म सेवन होता रहे और धर्मके बाधक—विशेष धर्म साधनके बाधक साधन न हो । जिन देशोंमें अधिकांश लोग मांस खानेवाले हैं, मांस खानेमें जिनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकसी हो रही है, जो धर्म और शीलको कुछ नहीं समझते, जिन्होंने धर्म शीलको नष्ट करनेमें कुछ विचार

नहीं होता वहां कभी धर्म साधन नहीं हो सकता । जहाँ आहारदान आदि देनेकेरिये कोई साधु वा त्यागी नहीं है, जहाँ विशेष पुण्य उपार्जन करनेकेरिये कोई तीर्थ नहीं वहाँ भी श्रावकोंको उस पुण्य संपादनसे वंचित रहना पड़ता है । इसलिए ऐसे देशमें कभी नहीं रहना चाहिये ।

आगे देशव्रतका फल दिखलाते हैं ।

सर्वत्र दिशि देशेपि मर्यादितावती मम ।

यद्वाह्ये नैव याम्यामि स्याऽस्तथ तन्महाव्रतम् ॥ १२७ ॥

अर्थ — सब दिशाओंमें और सभा देशोंमें आने जानेकेरिये मेरे इतनी मर्यादा है। मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा । इस प्रकार नियम होनेसे मर्यादाके बाहर उसके महाव्रत हो जाता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार दिग्ब्रतामें पालन करनेमें महाव्रत हो जाता है उसी प्रकार देशव्रतके पालन करनेमें उससे अधिक महाव्रतका फल मिल जाता है । इसलिये प्रत्येक श्रावकको यह व्रत भी अवश्य पालन करना चाहिये ।

आगे और भी इस व्रतका फल दिखलाते हैं ।

हिंसा निवारिता तेन तेन लोभोपि संहृतः ।

येनेदं पालितं शश्वद् द्वितीयव्रतमुत्तमम् ॥ १२८ ॥

२ वर्तमानमें अमेरिका योरोप आदि देशोंमें ऐसी ही प्रवृत्ति हो रही है । वहांपर प्रायः सभी लोग मांस खाते हैं मध्य पीते हैं धर्म शीलको कुछ समझते नहीं और न वहांपर कोई तीर्थ वा साधु त्यागी हैं, इसलिये वर्तमान समयमें योरोप या देशोंकी यात्रा करना धर्मविरुद्ध है । भागवान् अरहंत देवकी पूजा करना वा दर्शन करना और शस्त्रियोंके अनुसार दान देना ये दो कार्य गृहस्थोंकेरिये अत्यावश्यक कर्तव्य हैं परंतु योरोप आदि देशोंमें ये हो नहीं सकते इसीलिये वहाँ जाना व रहना धर्मविरुद्ध है ।

अर्थ—जो श्रावक इस दृसे उत्तम देशव्रतको सदा पालन करता है उसके हिंसाका त्याग भी हो जाता है और उसके लोभका संबरण भी हो जाता है ।

भावार्थ—इस संसारमें लोभका घटना अत्यंत फटिन है । जो मनुष्य देशव्रत धारण कर जितने दिनोंके लिये सीमा नियत कर लेता है उतने दिनोंके लिये वह सीमासे बाहर होनेवाले लाभका भी त्याग कर देता है तथा सीमाके बाहर उतने दिनत्रयक किसी प्रकार की हिंसा उससे हो ही नहीं सकती । इस प्रकार देशव्रत धारण करनेसे सीमाके बाहर हिंसा का भी त्याग हो जाता है इसलिये इस व्रतका धारण करना सबसे उत्तम है ।

आगे अनर्थदंडविरति व्रतका स्वरूप कहते हैं ।

पादायुधमयूरो तु बभ्रुव्यालादयः स्वयम् ।

सत्वसंतानसंहाराः पोष्यन्ते नैव देहिनः ॥ १२९ ॥

अर्थ—अनर्थदंड व्रत धारण करनेवालों को अन्य जीवोंका धात करनेवाले बाज, मयूर, न्योल, सर्प आदि हिंसक प्राणी कभी नहीं पालने चाहिये ।

भावार्थ—जिन कामोंके कामोंमें कुछ सच्चा प्रयोजन तो सिद्ध न हो और हिंसा बहुत अधिक हो । ऐसे काम करनेको अनर्थदंड कहते हैं । ऐसे कामोंके त्याग करनेको अनर्थदंडविरति अथवा अनर्थदंड व्रत कहते हैं । अनर्थदंड व्रत धारण करनेवालोंको कुत्ता बिली बाज तीतर न्योल सर्प आदि हिंसक जानवर कभी नहीं पालने चाहिये । इनके पालन करनेसे हिंसा बहुत अधिक होती है परंतु लाभ कुछ नहीं होता । व्यर्थ ही घोर पाप कर्मोंका बंध छोड़ा जाता है । इसलिये श्रावकको हिंसक पशुओंके पालन करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

आगे ऐसे व्रतियोंको और भी कर्तव्य बतलाते हैं ।

बधवंधभयं रोधो देहिनां विन सम्भवेत् ।

शस्त्रपाशादि तद्रस्तु स्वलभेषि न दीयते ॥ १३० ॥

अर्थ— सांकल रस्सा आदि जिन ज़िदार्थोंसे पशु बांधे जा सकें, तलवार, पैना आदि जिनसे पशु मारे जा सकें, जिनसे पशुओंको भय उत्पन्न हो—जिनसे पशु रोके जा सकें ऐसे शस्त्र जाल आदि पदार्थ अपना लाभ होते हुए भी किसीको नहीं देने चाहिये।

भावार्थ— ऐसे पदार्थोंका देना हिंसादान है। ऐसे पदार्थोंके देने में उनसे होने वाली हिंसाका पाप देने वाले को भी लगता है इसलिये ऐसे पदार्थ कभी नहीं देने चाहिये।

आगे श्रावकोंको क्या क्या कर्म नहीं करना चाहिये सो बतलाते हैं।

नित्यं ब्रह्मिष्ठानो यो लोहपात्रादिना विधिः ।

तल्लामे नैवमीहन्ते श्राद्धा क्राविधौ स्थिताः ॥ १३१ ॥

अर्थ— लोहेको गलाना, लोहेकी चंजि बनाना आदि कार्योंमें प्रधान रीतिसे सदा अग्नि जलानी पड़ती है। इसलिये ब्रतोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको ऐसे कार्य कर उससे लाभ उत्पन्नेकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये।

भावार्थ— लोहेके कारखानोंमें हिंसा बहुत होती है इसलिये ऐसे कामोंसे जीविका कभी नहीं करनी चाहिये।

मूलपुष्पफलादीनां लाभवृत्तिं विदूरयेत् ।

नित्यं वनस्पतेर्बाधां धर्मार्थीं नैव पोषयेत् ॥ १३२ ॥

अर्थ— वृक्षोंकी जड़ फूल फल आदिसे जीविका नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसे कामोंसे वनस्पतियोंको सदा बाधा पहुंचती रहती है। धर्मत्वा पुरुषोंको ऐसे हिंसक कार्य कभी नहीं करने चाहिये।

भावार्थ— लकड़ीकी टाल खोलना फूल वा फल बेचनेका व्यापार करना अथवा हरी वनस्पति बेचना, शाकभाजी बेचना आदि कार्योंमें वनस्पतियोंकी बहुत हिंसा होती है साथमें त्रस जीवोंकी हिंसा भी होती है। इसलिये श्रावकोंको ऐसे कार्योंमें भी जीविका कभी नहीं करना चाहिये।

रथादीनां विधानानि तेषां वा सूत्रधारिता ।

प्रोषो धानादिधान्यानां दलयन्त्रं तु नाश्रयेत् ॥ १३३ ॥

अर्थ—रथ गाड़ी वग्धी टांगा आदिका बनाना वा उनकी कारीगरी का काम करना, चावल आदि धान्योंके भूसको जलाना तथा ढाल दलने आदा पीसनेकेलिये चक्री चलाना आदि कार्य भी हिंसाके जनक हैं इसलिये श्रावकोंको ऐसे कार्योंसे भी जीविका नहीं करनी चाहिये ।

भावार्थ—बढ़ई वा सुतारकेर कामोंमें भी बहुत हिंसा होती है । तथा आगे अच्छी फसल हो और खात अच्छा लग जाय इसलिये चावलोंके धानमें अथवा मूँजके डंठलोंमें अग्नि लादेते हैं । यह काम भी अत्यंत हिंसाका है । इसमें अनेक जीवोंकी हिंसा हो जाती है । तथा अग्नि पीसनेकी मिलें खोलनेमें बहुत हिंसा होती है । बहुतसे धुने बींधे अनाज दल पिस जाते हैं । इसलिये श्रावकोंको ये सब काम नहीं करना चाहिये ।

महिषाश्ववृषादीनां लाभार्थं भारवाहिता ।

तेषां वा संप्रदानानि पशुजीर्णि विदूरयेत् ॥ १३४ ॥

अर्थ—अपने लाभकेलिये भैंग घोड़ा बैल आदि पशुओंपर भार लादना वा बोझा लादनेकेलिये उन्हें किसीको देना पशुजीविका कहलाती है । श्रावकोंको यह पशुजीविका भी छोड़ देनी चाहिये ।

भावार्थ—पशुजीविकामें भी बहुतसी हिंसा होती है कभी कभी तो अधिक बोझा लाद देना पड़ता है, कभी कभी उन पशुओंको भूखे प्यासे भी रखना पड़ता है और कभी कभी कभी स्वाने पीनेको देखे देना पड़ता है, कभी उन्हें कर्डि सर्दीमें बाहर खड़ा कर देना पड़ता है, कभी जेठ की कड़ी धूपमें स्वडा कर देना पड़ता है और कभी वरसातमें भीगते हुए बाहर खड़ा कर देना पड़ता है । इस प्रकार पशुओंको अनेक प्रकारके कष्ट देने पड़ते हैं । इसलिये श्रावकोंको ऐसी जीविका अवश्य छोड़ देनी चाहिये ।

वापीसरोवरादीनां विधानं नैव धर्मदम् ॥

द्वदाहादिवृत्तीनां भिलानां नैव संश्रयः ॥ १३५ ॥

अर्थ— कूआ बाबडी सरोवर आदि बनानेमें भी कोई धर्मकी वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार वनमें अभि लगाना, पेड़ काटना आदि की जीविका करनेवाले भीलोंको आश्रय भी नहीं देना चाहिये।

भावार्थ— कूआ बाबडी आदि बनानेमें हिंसा बहुत होती है और वे वने रहने तक बराबर हिंसा होती रहती है। इसलिये इनके बनवानेमें कोई धर्म नहीं होता। श्रावकोंको कभी नहीं बनवाना चाहिये। इसी प्रकार हिंसा करनेवाले भील कसाई आदि लोगोंको रुपया उचार देकर सहारा देना उनकी हिंसा करनेवाली जीविकामें सहायता देना है। इसलिये ऐसे हिंसक कामोंमें कभी सहायता नहीं की जाए। हाँ, यदि वे रोगी वा दुःखी हों तो उनका दुःख दूर अवश्य कर देना चाहिये।

दन्तरोमादिवस्तूनां देहावयक्तपम्पदाम् ।

नीलीमनःशिलादीनां तथा लाभो न सम्मतः ॥ १३६ ॥

अर्थ— दाँत, बाल आदि जो शरीरके अवयव हैं उनके व्यापारसे तथा नील मनशिल आदि के व्यापारमें कभी जीविका नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ— हाथीके दाँत, चमरी गायकी पूँछ आदि जो जो शरीर के अवयव हैं उनका व्यापार कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि उनके लिये उन पशुओंकी हिंसा करनी पड़ती है। इसी प्रकार नीलके व्यापारमें बहुतसी हिंसा होती है। और मनशिल भी हिंसाका साधन है। इसलिये श्रावकोंको इनका व्यापार कभी नहीं करना चाहिये। इनमें लाभ अधिक हो तो भी इनका व्यापार नहीं करना चाहिये।

नवनीतवसामद्यमध्वादीनां त्रसात्मनाम् ।

विषास्त्रहलयन्त्रायःप्रभृतीनां न संश्रयः ॥ १३७ ॥

अर्थ— जिनमें अनेक त्रस जीव वा स्थावर जीव उत्पन्न होते वा

मरते रहते हैं ऐसे मक्खन वा लौनी, चबी, मद्य, शहत आदि पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार विष, शस्त्र, हल, यंत्र, लोहा आदि हिंसा करनेवाले पदार्थोंका संग्रह भी कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ मक्खन चबी मद्य शहत आदि पदार्थ तो जीवमय हैं उनमें अनंत स्थावर जीव और असंख्यात त्रस जीव सदा उत्पन्न होते व मरते हैं। इसलिये इन पदार्थोंका संग्रह नहीं करना चाहिये तथा लोहा विष शस्त्र आदि पदार्थ हिंसाके साधन हैं। यदि इनका संग्रह किया जायगा तो कभी न कभी इनसे हिंसा भी अवश्य होगी। इसलिये इनका संग्रह करना भी पापका ही काग्ज है। श्रावकोंको कभी इनका संग्रह नहीं करना चाहिये।

लाभार्थं नैव धार्यन्ते गन्त्रपीलाद्यस्तथा ।

त्रसनिष्पत्तिहेतूनां तिलादीनां न संश्रयः ॥ १३८ ॥

अर्थ — अपने लाभके लिये कोल्हू चखी आदि यंत्र नहीं रखने चाहिये तथा जिनमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहें ऐसे तिल आदि अनाजों-का वा अन्य पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—कोल्हू पेलनेमें असंख्यात जीवों की हिंसा होती है। तथा रुई निकालने की चरखियोंमें भी कपासके असंख्यात जीव मर जाते हैं। इसलिये इनके द्वारा न तो व्यापार करना चाहिये और न इनको भाड़ेपर चलाकर इनसे द्रव्य उपार्जन करना चाहिये। इसी प्रकार तिल आदि अनाजों में बहुत शीघ्र जीव उत्पक्ष हो जाते हैं। ऐसे अनाज वा ऐसे अन्य पदार्थ भी कभी इकट्ठे कर नहीं रखने चाहिये। अभिप्राय यह है कि जो कार्य हिंसाके साधन हैं अथवा जिनसे हिंसा होना संभव है ऐसे कार्य श्रावकों को कभी नहीं करना चाहिये।

आगे अनर्थदंडों के और भी भेद दिखलाते हैं।

पापोपदेशपैशुन्यमिथ्याण्यप्रवर्तनाः ।

रौद्रार्थध्यानसम्बन्धाः प्रसन्धास्तेपि तादृशाः ॥ १३९ ॥

वधबन्धनसंरोधहेतवोन्येपि सान्ते ये ।

तेपि यत्नात्प्रहातव्या भवत्त्वर्णपयोधराः ॥ १४० ॥

अर्थ—जिनमें पशुपक्षियों को दुःख पहुंचे अथवा और कोई हिं-
सा ज्ञाठ चोरी कुशील आदि पाप उत्पन्न हो ऐसे कार्योंका उपदेश देना,
किसीकी चुगली खाना, किसीको मिथ्या मार्गमें लाना, रौद्रध्यान वा
अर्तध्यान उत्पन्न करनेवाले वा और भी ऐसे कार्य करना जो
जीवोंके बध बंधन के कारण हों अथवा उनके रोकने वा
घिरावके कारण हों—ये सब कार्य अथवा और भी ऐसे ही ऐसे
कार्य जो कि संसाररूपी बेलको बढ़ानेके लिये बादलों के समान हैं;
गृहस्थोंको बड़े प्रथलसे छोड़ देने चाहिए ।

भावार्थ—जिस प्रकार बादलोंसे बेल बड़ती है उसी प्रकार इन हिंसा
और पापके कार्योंसे जन्म मरण रूप संसार बढ़ता है । इसलिये श्रावकों
को इनका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये । इनके सिवाय काम क्रोध
मद मोह आदि विकार उत्पन्न करनेवाले अंथ पढ़ने का भी त्याग कर-
देना चाहिये । अभिप्राय यह है कि हिंसाके सब साधनोंका त्याग कर-
देना चाहिये ।

आगे इस अनर्थदंड व्रतकी महिमा दिखलाते हैं ।

〔सर्वश्र्वर्यं लभेतासी देशाशाविग्रतिव्रतात् ।

तृतीयव्रतमाहात्म्यात्स्वामित्वं सर्वदेहिषु ॥ १४१ ॥

अर्थ—इस अनर्थदंड व्रतके महात्म्यसे एक देश व्रतको धारण
करनेवाले अणुव्रतियोंको इस संसारका समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है और
वह समस्त प्राणियोंका स्वामी होता है । 〕

भावार्थ—इस व्रतके प्रभावसे प्राणियोंको इंद्र उक्तवर्ती आदिकी उत्तम
उत्तम विमूलियां प्राप्त होती हैं और सब मनुष्य व देव उसकी सेवा
करते हैं । इसलिये श्रावकोंको यह व्रत अवश्य धारण करना चाहिये ।
इस व्रतके धारण करनेसे अनेक जीवोंकी हिंसा बच जाती है जिससे

उसे महापुण्यका बंध होता है। और फिर उसके उदयसे उसे अपार सुखकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार गुणव्रतोंका स्वरूप समाप्त हो चुका।

अब आगे शिक्षाव्रतोंको कहते हैं। उनमेंसे सबसे पहले सामायिकको कहते हैं।

संध्यात्रये विधातव्यो ज्ञियमादैवतो विधिः ।

देववन्दनया सार्द्धमप्रमाहपरैः सदा ॥ १४२ ॥

अर्थ—श्रावकोंको प्रमादरहित होकर प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनों समय देववन्दनार्थि साथ साथ नियमपूर्वक सामायिक करना चाहिये।

भावार्थ—सामायिक तीनों समय करना चाहिये। उसके करनेमें किसी प्रकारका प्रमाद नहीं करना चाहिये, और उसके साथ देववन्दना अवश्य करनी चाहिये।

आगे प्रातःकालकी विधि बतलाते हैं।

रात्रेस्तुरीययामादें निद्रां हित्वा प्रबुद्धवान् ।

शुद्धात्मानं शिवं शान्तं लंबं स्तुतिपदैः स्तुवन् ॥ १४३ ॥

मित्रत्वं सर्वसत्त्वेषु प्रमोदं सर्वसाधुषु ।

दयां दैवहताशेषु माध्यस्थं व्रतवैरिषु ॥ १४४ ॥

भीरुत्वं भवभावेषु भद्रत्वं सर्वसत्यथे ।

हेयत्वं पुत्रमित्रादौ ध्यायन् शश्यां विदूरयेत् ॥ १४५ ॥

अर्थ—रात्रिके चौथे पहरका जब आधा भाग व्यतीत हो जाय आधा पहर वा डेढ घंटा रात बाकी रहे उस समय नींद छोड़कर जग जाना चाहिये। जगते ही सबसे पहले सुन्दर स्तोत्रोंसे शुद्ध आत्म स्वरूप सबका कल्याण करनेवाले और परम शान्त मुद्राको धारण करनेवाले भगवान् अहंत देवकी स्तुति करनी चाहिये। तदनंतर चितवन करना

चाहिये कि मेरे सब प्राणियोंके साथ निमित्तताका वर्तवि रहे । मुझसे कि सीको दुःख न पहुँचे—सब जीव सुखी रहें । तथा सम्यक्‌चारित्रिको धारण करनेवाले साधुओंको देखकर प्रसन्न होना चाहिये । सम्यज्ञानं वा अन्य गुणियोंको देखकर भी प्रसन्न होना चाहिये । इसी तरह दुःखी, रोगी जीवोंके प्रति दयाभाव धारण करना चाहिये । जो मनुष्य मिथ्या मार्गमें चल रहे हैं, रत्नत्रयके विरोधी हैं उनके प्रकृति माध्यस्थ भाव रखना चाहिये । उन्हें देखकर क्रोध नहीं करना चाहिये । संसारके दुःखोंसे सदा डरते रहनेकी भावना रखनी चाहिये । समस्त धार्मिक कार्योंमें कल्याण होनेकी भावना रखनी चाहिये । और पुत्रमित्र आदि उद्दुंबी वा इष्ट जनोंसे ममत्व छूट जानेकी भावना रखनी चाहिये । इस प्रकार चिंतवन करते हुए—भावना करते हुए प्रत्येक श्रावकको अपनी शय्या छोड़नी चाहिये ।

भावार्थ—डेढ घंटे रात रहे ब्राह्म मुहुर्त कहलाता है । उसी समयपर सबको जग जाना चाहिये । और पंच परमेष्ठीको नमस्कार कर अच्छे अच्छे पदोंसे उनकी स्तुति करनी चाहिये । तदनंतर ऊपर लिखी भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये और फिर विस्तरेसे उठकर खड़ा होना चाहिये ।

तदनंतर—

शल्यत्रयविदूरात्मा निर्वेदोदस्मन्थरः ।

निद्राप्रमादवैधुर्यनिदनत्वस्य शुद्धधीः ॥ १४६ ॥

अर्थ—जिसने माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों को दूर कर-दिया है और जिसके मंद मंद वैराग्यका उदय होरहा है ऐसे सामायिक करने वालेको निद्रा, प्रमाद, घबड़ाहा, निदा आदि विकारों को दूर कर बुद्धिको शुद्ध कर लेना चाहिये ॥

भावार्थ—सामायिक करते समय तीनों शल्योंका त्याग करदेना चाहिये । कोई भी किया छलकपट पूर्कं नहीं करना चाहिये । मिथ्याभाव नहीं रखना चाहिये अथवा मिथ्या क्रियाएं नहीं करनी चाहिये । अ-

पर्म सामायिक वा धर्म संवनके बहुले किसी प्रकार के भोग उपयोग आदि फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये । उस समय हृदयमें वैराग्य धारण करना चाहिये जिससे मनकी चेष्टा, अकुलता वा व्यग्रता नष्ट हो जाय और मन निश्चल हो जाय । मनके निश्चल हुए विना सामायिक कभी नहीं हो सकता । इसलिये सामायिक कल्प समय मनको अवश्य निर्विकार और निश्चल कर लेना चाहिये । इसी प्रकार अपनी बुद्धिको भी शुद्ध कर लेना चाहिये और निद्रा प्रमाद आदि मनके विकार सब हटा देना चाहिये । मन और आत्माको निर्मल कर फिर सामायिक करना चाहिये

देवः सोर्द्दन् दया धर्मो यतयो येत्र निस्पृहाः ।

रत्नत्रयं सदा ध्येयं तदन्दे शासनं त्रिधा ॥ १४७ ॥

अर्थ——जिस अरहंत देवके शासनमें वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी ऐसे भगवान् अरहंत देव ही परमदेव हैं, समस्त प्राणियोंपर दया धारण करना ही परमधर्म है; सर्वथा निस्पृह और इच्छा वा वांछा न रखनेवाले मुनि ही परम गुरु हैं तथा जिसमें रत्नत्रयका ही ध्यान किया जाता है ऐसे शासनको मैं मन वचन काय तीनोंसे नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ— संसारमें वही शासन उत्तम है; वही संसार समुद्रसे पार कर सकता है जो सर्वज्ञ वीतरागको ही देव मानता है दयाको ही धर्म मानता है, निर्ग्रथ मुनिको ही गुरु मानता है और रत्नत्रयको ही ध्येय मानता है । सामायिकके समय ऐसे शासनको मन वचन काय तीनोंसे नमस्कार करना चाहिये ।

धन्योहं येन संत्रासा तदुर्लभपरंपरा ।

संसारसिधुनिस्तारो भगिष्यति ममाधुना ॥ १४८ ॥

अर्थ——तदनंतर चितवन करना चाहिये कि जिस अरहंत देवके शासनका प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है; जो शासन अनादि कालसे आजतक पाप नहीं हुआ वही शासन आज मुझे प्राप्त हुआ है । इसलिये मैं इस

संसारमें उत्तम हूँ। अब मैं इस संसारखण्डी महासागरसे अवश्य ही पार हो जाऊँगा।

ध्यात्वेति गनसा भव्यः शुद्धात्मभरनिर्भरः ।

त्रिशुद्धया भावसंशुद्धः प्रारम्भेत प्रभुस्तुतिम् ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो केवल शुद्ध आत्मांक भावका ही सहारा ले रहा है जिसके भाव मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक अत्यंत शुद्ध हैं ऐसे भव्य जीवको प्रथम अपने मनमें ऊपर लिखे अनुसार चित्तवचन करना चाहिये और फिर भगवान् अरहंत देवकी स्तुति प्रारंभ करनी चाहिये।

भावार्थ—सामायिक करनेवालेको सबसे पहले मन वचन कायको शुद्ध रखना चाहिये फिर भावोंको शुद्ध करना चाहिये और इस प्रकार आत्माको परम शुद्ध कर लेना चाहिये। आत्माको शुद्ध कर फिर समता वेदना आदि सामायिकमें करने योग्य व्याय करना चाहिये।

वद्धपद्मासनस्थायी निरवद्ये स्त्रमासने ।

देहमात्रोपधिस्थाता निर्व्यापारपदे स्थितः ॥ १५० ॥

अर्थ—सामायिक करनेकेलिये उस सबसे पहले निर्दोष आसनपर पद्मासन बांधकर बैठना चाहिये। शरीरके सिवाय सब परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये और मन वचन कायकी प्रवृत्तियां सब हटा देनी चाहिये।

भावार्थ—सामायिकके लिये सबसे उत्तम आसन पद्मासन है। यदि पद्मासनसे न बैठ सकेतो फिर अद्वे पद्मासन या सुखासनसे ही बैठना चाहिये। और वह बैठक किसी शुद्ध लाईपर या शुद्ध भूमिग्रही होनी चाहिये। अशुद्ध बिछोनेर बैठकर सामायिक करनेमें परिणामोंकी उज्ज्वलता नहीं रह सकती। उस समय घरके धंडे व्यापारोंकी चिता तो सब छोड़ देनी ही चाहिये परंतु घर कुटुंबसे ममत्व भी छोड़ देना चाहिये। जितनी देरतक वह सामायिक करे उतनी देरतक उसे केवल शरीरमात्र परिग्रहका परिमाण रखना चाहिये। यदि शरीरपर कुछ बचा हो तो उन

का परिमाण भी रख लेना चाहिए। इनके सिवाय और सब परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये। इसके सेवाय मन वचन काय की सब क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये। प्रायः काय की क्रिया का तो त्याग हो ही जाता है। वचन की क्रिया भी उतनी ही करनी चाहिये जो सामायिकमें काप आवे सामायिकमें काम आनेवाली शरीरकी क्रिया भी करनी पड़ती है। जैसे हाथ जोड़ना नमस्कार करना आवर्त करना आदि। वचनकी क्रिया जैसे वंदनाका पाठ पढ़ना, प्रतिक्रमणका पाठ पढ़ना आदि। मनकी क्रियामें पंच पर्मष्ठीके स्वरूपका चित्तवन अथवा शुद्ध आत्माके स्वरूपका चित्तवन करना चाहिये। इन क्रियाओंके शिवाय आरंभ व्यापार आदिसे संबंध रखनेवाली मन वचन कायकी सब क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये।

मित्रे शत्रौ समा वृत्तिर्त्यभालाभे शुभाशुभे ।

शिवे भवे भवेद्यस्य स अन्यः समयवती ॥ १५१ ॥

अर्थ—जिस प्ररूपके मित्र और शत्रुमें समान भाव रहते हैं, हानि लाभमें समान भाव रहते हैं, शुभ अशुभमें समान भाव रहते हैं और संसार तथा मोक्षमें समान भाव रहते हैं अह सामायिक करनेवाला पुरुष संसारमें धन्य गिना जाता है।

भावार्थ—सामायिक करनेवाले को समताभाव अवश्य धारण करना चाहिये। उस समय उसे न तो मित्रसे प्रेम भाव रखना चाहिये न शत्रुसे द्वेष भाव रखना चाहिये। अफता लाभ होनेपर, कोई अच्छा कार्य बन जानेपर या शुभ कर्मका उदय होनेपर प्रसन्न भी नहीं होना चाहिये। और हानि होनेपर वा लाभ न होनेपर अथवा अशुभ कर्म का उदय होनेपर खेड़खिन्न भी नहीं होना चाहिये। दोनों अवस्थाओंमें उसे समान भाव रखने चाहिये। इसी प्रकार संसारके दुःखों और मोक्षके अनंत सुखोंमें भी समान भाव रखना चाहिये। इस प्रकार समता भावोंको धारण करता हुआ सामायिक करनेवाला संसारमें धन्य और पूज्य गिना जाता है।

इसी प्रकार—

व्याधिवान्धवो वापि निधनानि धनानि वा ।

पीयूषं वा विषं वापि समवृत्त्या विभावयेत् ॥ १५२ ॥

अर्थ—रोग और भाई बंधुओं को, धन और दरिद्रीपनेको तथा अमृत और विषको समान भावसे ही देखना चाहिये ।

भावार्थ—यदि रोग हो जाय तो दुःखी नहीं होना चाहिये और भाई, बंधु आदि कुटुंबी जन मिल जायं तो प्रसन्न नहीं होना चाहिये । इसी प्रकार धन मिल जाय वा अमृत मिल जाय तो प्रसन्न नहीं होना चाहिये और नष्ट हो जाय दरिद्रता आ जाय अथवा अमृतके बदले विष मिल जाय तो दुःखी नहीं होना चाहिये । सुख दुःख, जीने मरने आदि सबमें समान भाव रखना चाहिये । सामायिकमें समता भाव रखना ही सर्वोक्तुष्ट विधि है । अथवा थोड़ेसेमें यों समझ लेना चाहिये कि विना समता भाव धारण किये सामायिक होही नहीं सकता । समताभाव धारण करना ही सामायिक है । इसलिये सामायिक करनेवालोंको समता भाव अवश्य धारण करना चाहिये ।

आगे भगवान् अरहंत देवकी वंकुना कहते हैं ।

नमो दुर्वाससंसारपारावारक्विर्तिनाम् ।

नाथाय भूरिभव्यानां हस्तालम्बनहेतवे ॥ १५३ ॥

अर्थ—जो भगवान् अरहंत देव अत्यंत भयंकर संसाररूपी महासागर में पड़े हुए अनेक भव्य जीवोंको पार करनेके लिये हाथका सहारा देने वाले हैं और सबके स्वामी हैं उनको में नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ—यह संसाररूपी महासागर अत्यंत कठिन और भयंकर है । इससे पार होना अत्यंत ही कठिन है । इसमें अनंत भव्य जीव पड़े हुए दुःख भोग रहे हैं । उनके संसार संबंधों समस्त दुःख दूर करनेके लिये भगवान् अरहंत देव ही कारण हैं । वे भगवान् ही मोक्षमार्गका उपदेश देकर सबको सुखका मार्ग दिखलाते हैं और इस प्रकार उन संसारी

जीवोंको संसारसे पार कर देते हैं। ऐसे परम उपकार करनेवाले और सबके स्वामी अरहंत देवको मैं नमस्कार करता हूँ।

नमो मोहमहाध्वान्तमलवित्रासभाषते ।

शाश्वतोद्योतसम्भूतपृतरूपनत्रयात्मने ॥ १५४ ॥

अर्थ—जो भगवान् अरहंत देव महा मोहांधकार रूपी मलको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान हैं और सदा प्रकाशमान रहनेवाले आत्मा�-नुभूतिरूपी प्रकाशसे उत्पन्न हुए पवित्र रत्नत्रयरूप ही जिनका आत्मा है ऐसे भगवान् अरहंत देवको मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—रत्नत्रय मोक्षका कारण है परंतु वह व्यवहार नयसे है। निश्चय नयसे रत्नत्रय सहित आत्मा ही मोक्षका कारण है। भगवान् अरहंत देवका शुद्ध आत्मा भी पवित्र रत्नत्रय सहित है। तथा उनका वह पवित्र रत्नत्रय केवलज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और वह केवलज्ञान सदा प्रकाशित रहता है। इसलिये उनका वह शुद्ध आत्मा पवित्र रत्नत्रयसे सदा सुशोभित रहता है। इसके सिवाय जिस प्रकार सूर्य अंधकारको सर्वथा नष्ट कर देता है उसी प्रकार भगवान् अरहंत देव भी मोहरूपी महा अंधकारको सर्वथा नष्ट कर देते हैं। उन्होंने अपना मोहांधकार तो नष्ट कर लिया ही है परंतु वे भगवान् धर्मोदेश देकर अन्य भव्य जीवोंका भी मोहांधकार नष्ट कर देते हैं। ऐसे अरहंत देवको मैं बार बार नमस्कार करता हूँ।

धर्माशृतरसासारप्रशान्तभस्त्रन्हये ।

मिथ्यात्वमतमाहात्म्यताप्रशमसम्पदे ॥ १५५ ॥

अर्थ—भगवान् अरहंत देव धर्मरूपी असृतके रसकी वर्षा कर संसार-रूपी अभिको बुझा देनेवाले हैं। और मिथ्यात्वको पुष्ट करनेवाले मतोंके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए संतापको शान्त करनेके लिये मेघकी वर्षाकी समान हैं।

भावार्थ— यह जीव संसाररूपी अभिसे संतप्त हो रहा है।

नरक निगोद आदि दुर्गतियोंके अनंत दुःख भोग रहा है। उसके इन अनंत दुःखोंको दूर करनेके लिये भगवान् अरहंत देव धर्मरूपी अमृतकी धारा वरसाते हैं और उनके अनंत दुःख दूर कर उन्हें अनंत सुख प्राप्त कर देते हैं। इसलिये मैं ऐसे अरहंत देवको बार बार नमस्कार करता हूँ। इस संसारमें मिथ्यात्व सब जीवोंको ज़ज़ रहा है—संताप देरहा है। उसको शांत करनेवाली भी आपके धर्मगुत की वर्षा है। आपके धर्म-मृतको सुनकर ही लोगोंका मिथ्यात्व छूट जाता है। और फिर वे सु-मार्गमें लगकर शीघ्र ही आत्मकल्याण कर लेते हैं। इसलिये ऐसे अरहंत देवके लिये मैं बार बार नमस्कार करता हूँ।

ना स्वमित्यं स्तुवन् स्तोत्रैः पुण्यस्थितमिव स्मरेत् ।

भावसंशुद्धितोत्तम्यं सर्वं फलति तादृशम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक मनोहर स्तोत्रोंसे भगवान् अरहंत देवकी स्तुति करनी चाहिये और वे भगवान् मानो अपने सामने ही विराजमान हैं ऐसा समझ कर उनका स्मरण करना चाहिये। क्योंकि अपने भाव शुद्ध होनेसे उनका वैसा ही फल अवश्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—नमस्कारके बाद भगवान्नात स्मरण करना चाहिये और वह इस प्रकार करना चाहिये मानो वे भगवान् मेरे सामने ही विराजमान हैं; अथवा मैं उनके सामने ही बैठा हूँ। यह सब कर्तव्य अपने भावों-को शुद्ध करनेके लिये है। मनुष्यके जैसे भाव होते हैं वैसे ही उनका फल प्राप्त होता है। शुद्ध भावोंका फल कवश्य ही उत्तम होता है। इसलिये भाव सदा शुद्ध रखना चाहिये।

आगे समताका स्वरूप दिखलाते हैं।

लाभालभे वने स्थाने मित्रे शक्तौ प्रियाप्रिये ।

साम्यभावो भवेभित्यं समतां तां विदुर्बुधाः ॥ १५७ ॥

अर्थ—हानि लाभ, संसार मोक्ष, मित्र शक्तु और प्रिय अप्रिय स-वर्गमें सदा एकसे भाव ग्रन्थनेको विद्वान् लोग समझ कहते हैं।

भावार्थ— इनि होनेमें खेदखिल नहीं होना, लाभ होनेमें प्रसन्न नहीं होना, संसारमें रहनेमें व्याकुल नहीं होना और मोक्षमें जानेके लिये व्याकुल नहीं होना, मिश्रका संसर्ग होनेपर प्रसन्न नहीं होना और शत्रुका संसर्ग होनेपर दुःखी नहीं होना लथा इष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर प्रसन्न नहीं होना और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर दुःख नहीं मानना । दुःख और सुख दोनोंमें एकसे परिणाम रखना समता कहलाती है । सामायिकमें यह समता अवश्य धारण करनी चाहिये ।

निदाप्रशंसयोः साम्यं साम्यं वा निधने धने ।

सर्वत्रापि महासाम्यं तदर्थं सर्वसंयमः ॥ १५८ ॥

अर्थ— इसीलिये अपनी किंत्र होती हो अथवा अपनी प्रशंसा होती हो तो दोनोंमें समता भाव रखना चाहिये । निदा होती देखकर दुःखी नहीं होना चाहिये और प्रज्ञसा होती देखकर प्रसन्न नहीं होना चाहिये । तथा धन मिल जानेपर प्रसन्न नहीं होना चाहिये और दरिद्री होनेपर दुःख नहीं मानना चाहिये । धनी दरिद्री दोनों अवस्थाओंमें एकसे परिणाम रखने चाहिये । इनके सिवाय और भी जितने विषय हैं सबमें समता भाव धारण करना चाहिये । इसका भी कारण यह है कि संसारमें जितना संयम धारण किया जाता है तपश्चरण किया जाता है ध्यान किया जाता है वह सब समता भावोंके धारण करनेके लिये ही धारण किया जाता है । समता धारण करना उन सबका फल है । यदि समता भाव न हुए तो फिर जप तप ध्यान^१ आदि सब व्यर्थ हैं । इसलिये सामायिकमें समता भाव अवश्य धारण करना चाहिये ।

आगे स्तुतिका स्वरूप बतलात्त हैं ।

सिद्धादीनां यथास्थित्या सामान्येनैव या स्तुतिः ।

संस्तुतिः सा भवेन्नित्यं शत्रुहाश्रयविशेषिता ॥ १५९ ॥

अर्थ— अरहंत वा सिद्ध भगवान् की यथायोग्य रीतिसे साधारण स्तुति करना स्तुति कहलाती है । वह स्तुति आश्रयके भेदसे अनेक प्रकारकी है ।

भावार्थ—अरहंत देव की स्तुति करना, अरहंतों में भी चौबी-सो तीर्थकर की स्तुति करना वा किसी एक तीर्थकर की स्तुति करना, आचार्य उपाध्याय साधुओं की स्तुति करना, जिनवाणी की स्तुति करना, दशधर्मोंकी स्तुति करना, रत्नत्रय की स्तुति करना आदि अनेक पूज्य पुरुषों के आश्रय होनेसे स्तुति अनेक यकार की कही जाती है ।

आगे स्तुतिका स्वरूप और भी उदाहरण देकर बतलाते हैं ।

सिद्धान्तत्वार्हतः प्राप्तान् विशुद्धाराधनं फलम् ।

वदाम्याराधनाशास्त्रं स्वस्वस्योपलब्धये ॥ १६० ॥

अर्थ—मैं सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर और अरहंत भगवान् को अपने हृदयमें विराजमान कर अपर्ण शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति के लिये विशुद्ध आराधनाओं के फल को। कहने वाले आराधना शास्त्रको कहता हूं ।

भावार्थ—इस श्लोकमें जो अरहंत और सिद्धों को नमस्कार करने स्तुति की गई है वह स्तुति है ।

आगे बंदना को कहते हैं ।

वर्द्धमानः श्रियं देयाद्वद्वमानां शिवोत्तराम् ।

येन प्रवर्तितं तीर्थं भवत्रमविनाशनम् ॥ १६१ ॥

अर्थ—जिन भगवान् महावीर स्वामीने संसारके परिप्रेक्षणको नाश करनेवाले तीर्थकी प्रवृत्ति की है ऐसे वे भगवान् वर्द्धमान स्वामी प्रति समय बढ़नेवाली और मोक्षमें प्राप्त होनेवाली लक्ष्मीको प्रदान करें ।

भावार्थ—इसमें भगवान् महावीर स्वामीकी बंदना है । वे भगवान् संसारके परिप्रेक्षणको दूर कर मोक्षसुखको प्राप्त करनेवाले हैं । उनके दिव्य उपदेशको सुनकर भव्य जीव शीघ्र ही मोक्ष मार्गमें ल्पाकर उसे प्राप्त कर लेते हैं । इसीलिये भगवान् महावीर स्वामीसे मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना की गई है ।

आगे किये हुए दोषोंका प्रतिक्रमण करते हैं ।

मिथ्यादिभिः प्रमादैर्वा स्थावरत्रसदेहिनाम् ।

योपराधस्त्रिधा भूतस्तस्य मिथ्यास्तु सर्वथा ॥ १६२ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय आदिके द्वारा जो त्रस वा स्थावर जीवोंका मन, वचन, कार्यसे अपराध हुआ हो वह सर्वथा मिथ्या हो ।

भावार्थ— कषाय वा प्रमादसे किसी जीवको दुःख पहुँचा हो वा और कोई अपराध हुआ हो वह सब मिथ्या हो । उसके लिये मैं अपनी निंदा करता हूँ ।

आगे भविष्यमें कोई दोष न करनेके लिये कहते हैं ।

विधास्ये न प्रमादादैस्त्रसस्थावरदेहिनाम् ।

विराधनमहं सर्वं सर्वेषां सर्वतस्त्रिधा ॥ १६३ ॥

अर्थ— आगे मैं कषायसे वा प्रमादसे त्रस स्थावर आदि समस्त जीवों की विराधना न मनसे करूँगा, न वर्णसे करूँगा और न कायसे करूँगा ।

भावार्थ— मैं अब आगे किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा । मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देता हूँ ।

आगे और भी भविष्यके लिये भावना कहते हैं ।

रत्नत्रये तदाधारे मा भूत्वमपराधवान् ।

सर्वसावव्यताहीनः संयमी लग्नं भवे भवे ॥ १६४ ॥

अर्थ— मेरी इच्छा है कि मुझसे सम्यदर्शन सम्यज्ञान वा सम्यक् चारित्रमें किसी प्रकार का दोष न लगे पावे तथा सम्यदर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्रको धारण करनेवाले मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका आदिका कोई अपराध न होने पावे । मैं भव भव में समस्त पापोंसे रहित संयमी होऊँ ऐसी मेरी उत्कृष्ट इच्छा है ।

भावार्थ— आगामी कालमें मुझसे किसीका अपराध न हो, रत्नत्रयमें कोई दोष न लगे और मैं भव भव में मुनिव्रत धारण करूँ ऐसी मैं भावना करता हूँ ।

आगे और भी भावना बतलाते हैं ।

माहं देहो न देहोहं देहोन्यः सर्वथापरः ।

शुद्धसंविच्छिस्पोहमात्मानुभवशाथ्यतः । १६५ ॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा शरीररूप नहीं है, न शरीर ही आत्मस्वरूप है। यह शरीर आत्मासे भिन्न है और वह आत्मासे सर्वथा भिन्न है। मैं (मेरा आत्मा) शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं और निरंतर रहनेवाली स्वात्मानुभूति रूप हूं ।

भावार्थ— मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं और सदा रहनेवाली स्वात्मानुभूतिसे भरपूर हूं यह शरीर जडरूप है—अचेतन है। आत्माका शरीरसे कोई संबंध नहीं। शरीर सर्वथा अलग है। ऐसा चित्तवन करते हुए शरीरसे ममत्व छोड़कर जप और ध्यान करना चाहिये ।

परद्रव्ये न वर्तेहं न वर्तिष्ये न वर्तितः ।

स्वात्मद्रव्ये प्रवर्तेहं प्रवर्तिष्ये प्रवर्तितः ॥ १६६ ॥

अर्थ—मैं परद्रव्यमें न रहता हूं न रहूंगा और न रहा हूं। मैं सदा अपने आत्मद्रव्यमें रहता हूं, आत्मद्रव्यमें ही रहूंगा और आत्मद्रव्यमें ही रहा हूं ।

भावार्थ— यह शरीर परद्रव्य है। उसमें मैं न कभी रहा हूं न रह रहा हूं और न आगे कभी स्थूंगा। कोई भी पदार्थ परद्रव्यमें रह ही नहीं सकता। सब द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें ही स्थिर रहते हैं। अतएव मैं भी आजतक अपने आत्म द्रव्यमें ही रहा हूं, अब भी अपने आत्म-द्रव्यमें भी रह रहा हूं और आगे भी अपने ही आत्मद्रव्यमें रहूंगा। आत्मद्रव्यको छोड़कर अन्य पदार्थमें मैं कभी रहही नहीं सकता। ऐसा चित्तवन करते हुए ध्यान करना चाहिये ।

आगे ध्यानको कहते हैं ।

विश्वत्रयमहाराध्यं विश्वविद्याभ्लप्रदम् ।

विश्वत्रयत्रभावेशं मूलमन्त्रं विभावयेत् ॥ १६७ ॥

अर्थ— पंच नमस्कारमंत्र मूलमंत्र कहलाता है। यह मूलमंत्र तीनों लोकोंकी समस्त विद्याओंके फलको देनेवाला है, तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्योंका स्वामी है और तीनों लोक इसकी उत्कृष्ट आराधना करते हैं। ऐसे इस पंच नमस्कार मंत्रका जप करना चाहिये तथा ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ— सब मंत्रोंमें पंच नमस्कार मंत्र ही उत्तम मंत्र है। इसीका जप और ध्यान करना चाहिये।

(परद्रव्यं परद्रव्यं स्वद्रव्यं द्रव्यमात्मनः ॥ १६८ ॥)

सम्बन्धोपि तयोनास्ति गथायं सद्विन्ध्ययोः ॥ १६८ ॥

अर्थ— पर द्रव्य सदा परद्रव्य ही रहता है। और स्वद्रव्य सदा स्वद्रव्य ही रहता है। स्वद्रव्य और परद्रव्य दोनोंका कुछ भी संबंध नहीं है। जिस प्रकार सदा पर्वत और विष्णु पर्वतका परस्पर कोई संबंध नहीं है।

भावार्थ— जिस प्रकार सद्विद्या और विष्ण्यादि दोनों पर्वत सर्वथा भिन्न भिन्न हैं उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार आत्मा और शरीरादिक पर द्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न हैं। इनका परस्पर कोई किसी प्रकारका संबंध नहीं है।

आगे मूलमंत्रकी और भी महेशा दिखलाते हैं।

सर्वं समीहितं तस्य फलतीह न संशयः ।

सर्वसिद्धिप्रदो येन मूलमन्त्रः प्रसाधितः ॥ १६९ ॥

अर्थ— जिस पुरुषने सब प्रकारकी सिद्धिओंको देनेवाला मूलमंत्र सिद्ध कर लिया है उसकी समस्त मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

भावार्थ— पंच नमस्कारमंत्रको सिद्ध कर लेनेसे समस्त प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और फिर उसकी सब इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं। इसलिये सबसे पहले पंच नमस्कार मंत्रको ही सिद्ध कर लेना चाहिये। इसका ही जप और ध्यान करना चाहिये।

श्रूयन्ते चद्रुः पूर्वं ये सिद्धा मूलमन्त्रतः ।
ततः सर्वप्रदावेष मूलमन्त्रं प्रभावयेत् ॥ १७० ॥

अर्थ— कथाभागोंमें यह सुना जाता है कि इस पंच नमस्कार मंत्रके प्रभावसे अनेक जीव सिद्ध हो गये हैं—अनेक जीवोंने मोक्ष प्राप्त कर ली है। इसलिये पूर्ण प्रश्न करके इस पंच नमस्कार मंत्रका जप और ध्यान करना चाहिये तथा इसकी आराधना करनी चाहिये।

भावार्थ— इस पंच नमस्कार मंत्रके प्रभावसे अनेक जीव सुमारीमें लग गये हैं। इसको सुनने मात्रसे अनेक जीवोंकी दुर्गतियाँ नष्ट हो गई हैं और सुगत प्राप्त होगई है। तथा मुगति प्राप्त होनेपर फिर वे जीव तप और ध्यान करने लग जाते हैं, रत्नत्रयको धारण कर लेते हैं। और इस प्रकार उक्त मोक्षसुख प्राप्त हो जाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस पंच नमस्कार मंत्रका जप और ध्यान करना चाहिये।

आगे मूल मंत्रकी प्रशंसा करते हैं।

(यवे मंत्रा न तद् दद्युर्महादेवेः समर्पिताः ।

मूलमन्त्रो ददात्यर्थं यद् ध्रुवं श्रव्यममतम् ॥ १७१ ॥

अर्थ— मूल मंत्रके सिवाय अन्य सब मंत्र चाहे महादेवोंके द्वारा ही समर्पण किये गये हों तथापि उनसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। परंतु मूल मंत्रसे ऐसे ऐसे 'नश्चिन पदार्थोंकी सेद्धि होती है कि जो सर्वमान्य हों।)

भावार्थ— मूल मंत्र सब मंत्रोंमें उत्तम है। इसके प्रभावसे ऐसे ऐसे पदार्थोंकी प्राप्ति होती है जिनके प्राप्त होनेकी सब इच्छा करते हों। मोक्षतक इसके प्रभावमें प्राप्त हो जाती है। इसके सिवाय अन्य मंत्रोंसे कुछ लाभ नहीं हो सकता चाहे वे मंत्र महादेवोंहीने क्यों न दिये हों। इसलिये इस मूल मंत्रका ही जप और ध्यान करना योग्य है।

आगे ध्यानके चार भेद बतलाते हैं ।

पदस्थं पदमन्त्रस्थं देहस्थं हृदयादिषु ।

रूपस्थं प्रतिमारूपे रूपातीतं स्वभास्वरम् ॥ १७२ ॥

अर्थ—ध्यान चार प्रकारका है— पदस्थ, देहस्थ, रूपस्थ और रूपातीत । किसी मंत्रके पदका ध्यान करना पदस्थ ध्यान है । हृदय शिर नाभि आदि शरीरके अंगोंमें किसी पदार्थको स्थापन कर ध्यान करना देहस्थ ध्यान है । भगवान् अरहंत देव अथवा उनकी प्रतिमाका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है । और अपने आप प्रकाशमान अमूर्त परमात्माका ध्यान करना रूपातीत ध्यान है ।

आगे पदस्थ ध्यानका स्वरूप बतलाते हैं ।

संततावर्तनेनैव समस्तं न्यस्तमेव वा ।

मूलमन्त्रं वदेद् ध्याता पदस्थं ध्यानमाह तत् ॥ १७३ ॥

अर्थ— मूल मंत्रको पूर्ण स्वरूपसे अथवा उसके किसी एक वा दो पदको बहुत देरतक बार बार कहने । अथवा जप करनेको पदस्थ ध्यान कहते हैं ।

भावार्थ— किसी पदको आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं । पदस्थ ध्यानमें मूल मंत्रका जप किया जाता है अथवा उसके किसी पदका जप किया जाता है । पदस्थ ध्यानमें नाभि-मंडलके भीतर सोलह दलका कमल बनाकर उसमें स्वर, न्यंजन स्थापन कर ध्यान किया जाता है । अथवा मंत्रराज अनाहत मंत्रका ध्यान किया जाता है । अथवा और भी अनेक मंत्रोंका जप किया जाता है । इसके ध्यानसे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं और समस्त कङ्गि सिङ्गि आदि मनोकामनाएं सिद्ध हो जाती हैं ।

आगे देहस्थ ध्यानको कहते हैं ।

पारंपर्योपदेशेन शिरोनाभिहृदादिषु ।

न्यस्तं यद् ध्यायते वस्तु तेहस्थं तद्विद्युधाः ॥ १७४ ॥

अर्थ— परंपरापूर्वक चले आये गुरुके उपदेशके अनुसार मस्तक, नाभि और हृदय आदिमें किसी पदार्थको स्थापन कर ध्यान करना देहस्थ ध्यान कहलाता है ।

भावार्थ— देहस्थ ध्यानका दूसरा नाम पिंडस्थ ध्यान है । इस पिंडस्थ ध्यानमें हृदय, नाभि अथवा मस्तकमें भगवान् अरहंत देवको विराजमान कर अथवा कर्म मल कलंक रहित अपने शुद्ध आत्माको विराजमान कर अथवा पंचपरमेष्ठीके काचक मंत्रोंको विराजमान कर ध्यान किया जाता है । यह ध्यान गुरुके उपदेश के अनुसार किया जाता है : तथा वे गुरु भी ऐसे हों जो परंपरापूर्वक गुरुओंके उपदेशके अनुसार ध्यान की विधिको अच्छी तरह जानते हों । स्वेच्छाचारी और अपने कपोल कलिपत विधिको बतलाने वाले न हों । आगे रूपस्थ ध्यानको कहते हैं ।

प्रतिमादौ सिद्धरूपे वा यद् ध्यानं तन्मयस्थितम् ।

रूपस्थं तद्वदन्त्यार्या ध्यानं धर्मपदेश्वराः ॥ १७५ ॥

अर्थ— किसी प्रतिमामें तन्मय विराचमान भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना अथवा सिद्ध भगवान्के आङ्गारमें तन्मय सिद्ध भगवान्को विराजमान कर उनका ध्यान करना चाहिए । धर्मपदके ईश्वर भगवान् देव इसी ध्यानको रूपस्थ ध्यान कहते हैं ।

भावार्थ— अनंत चतुष्टय अष्ट प्राणिहार्य और चौतीस अतिशय सहित समवसरणमें विराजमान भगवान् स्तुष्टभद्रेवका ध्यान करना वा भगवान् महावीर स्वामीका ध्यान करना अथवा अन्य किसी तीर्थकरका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है ।

आगे रूपातीत ध्यानका स्वरूप कहते हैं ।

यद् ध्यायन्त्यात्मनात्मानमात्मनो भवनिःस्पृहाः ।

रूपातीतं मते ध्यानं सर्वसंसारञ्जदनम् ॥ १७६ ॥

अर्थ— संसारसे निस्पृह हुए जो मुनि अपने ही आत्माकेलिये

अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका जो ध्यान करते हैं उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं। यह रूपातीत ध्यान जन्ममरणद्वा समस्त संसारको नाश कर देता है।

भावार्थ——चिदानन्दमय आने अमूर्त शुद्ध आत्माका ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। इस ध्यानसे पंच—परावर्तनरूप संपार सर्वथा नष्ट हो जाता है और शीघ्र ही सिद्ध पञ्चकी प्राप्ति हो जाती है।

रूपादिभ्यः पदार्थेभ्यो मध्यतीतं स्वभावतः ।

रूपातीतं मतं तस्माद् धानं संशुद्धबुद्धिभिः ॥ १७७ ॥

अर्थ——यह रूपातीत ध्यान स्वभावसे ही रूपी पदार्थोंके आश्रय नहीं होता। अरूपी पदार्थोंके आश्रय ही होता है। इसीलिये अत्यंत शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले गणवरादि देव इसे रूपातीत ध्यान कहते हैं।

भावार्थ——रूपातीत ध्यानमें अमूर्त शुद्ध आत्माका ही चित्तवन किया जाता है। इसीलिये इस ध्यानको रूपातीत ध्यान कहते हैं।

* आगे इस ध्यानका फल दिखलाते हैं।

बोधिप्राप्तौ यदात्मायमात्मन्यात्मानमात्मना ।

स्वयं सूते तदावस्थां लम्ते परमात्मताम् ॥ १७८ ॥

अर्थ——रत्नत्रयके प्राप्त होनेपर जब यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको आने आप प्राप्त कर लेता है तब यह आत्मा स्वयं परमात्म अवस्थाको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ——रत्नत्रय आत्माका शुद्ध स्वभाव है—आत्माका शुद्ध स्वाभाविक गुण है। उसके प्राप्त होनेपर यह आत्मा कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ होता है। रत्नत्रयके प्राप्त होनेपर शुद्ध आत्माका स्वरूप प्रगट होता है और फिर उस शुद्ध आत्माके ध्यानके द्वारा कर्म नष्ट होते हैं। जब यह सम्यज्ञानी आत्मा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्माका चित्तवन करता है तब उसके निश्चय ध्यान होता है।

उसी निश्चय ध्यानमें शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। उसीसे कम सब नष्ट हो जाते हैं और फिर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि रूपातीत ध्यान परमात्म पदकी प्राप्तिका कारण है।

आगे ध्याता, ध्यान, रत्नत्रय सब आत्मस्वरूप ही हैं ऐसा बतलाते हैं।

ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानात्मात्मा स्वभावतः ।

रत्नत्रयं भवेदात्मा सोपि रत्नत्रयात्मवान् ॥ १७९ ॥

अर्थ— ध्यान करनेवाला भी आत्मा ही है, ध्येय भी आत्मा ही है, ध्यान भी स्वभावसे ही आत्मा ही है, रत्नत्रय भी आत्मस्वरूप ही हैं और आत्मा भी रत्नत्रयस्वरूप ही है।

भावार्थ— इस रूपातीत ध्यानमें ध्यान करनेवाला तो आत्मा है ही, विना आत्माके अन्य किसी भी पदार्थमें ध्यान करनेकी शक्ति नहीं है। तथा शुद्ध आत्माका ही ध्यान किया जाता है। रूपातीत ध्यानमें रूपी पदार्थका तो ध्यान होता ही नहीं है, शुद्ध आत्माका ही ध्यान होता है। चित्तवत भी वहाँ मनसे नहीं होता। केवल आत्मा ही अपने आत्ममें लीन हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि ध्यान भी आत्मा ही है। ऐसे इस ध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है परंतु वह रत्नत्रय भी आत्मस्वरूप ही हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि आत्मा भी रत्नत्रयस्वरूप ही है। अभिप्राय यह है कि यदि पर पदार्थका संयोग हट जाय और शुद्ध आत्म द्रव्यकी प्राप्ति हो जाय तो उस समय ध्याता ध्यान, ध्येय, रत्नत्रय और शुद्ध आत्मद्रव्य सब एक साथ प्राप्त हो जाते हैं।

आगे ऐसे ही ध्यानके अभ्यास करनेका उपदेश देते हैं।

यदीहेत परं तत्त्वं दुष्प्रापं शाश्रितं पदम् ।

ध्यानमेतत्ततो यत्जादभ्यस्यत् समाहितः ॥ १८० ॥

अर्थ— संसारमें शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होना ही परम तत्त्व है। इसीको मोक्ष तत्त्व कहते हैं।

यह परमतत्त्व अत्यंत कठिनतासे प्राप्त होता है। और प्राप्त होनेपर फिर वह कभी नष्ट नहीं होता—सदा एकसा बना रहता है। यदि ऐसे इस परमतत्त्वके प्राप्त होनेकी इच्छा करत हो तो सावधान होकर बड़े प्रयत्नसे ध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—मोक्ष तत्त्वके प्राप्त हुए जानेपर अनंत सुखकी प्राप्ति होती है। और वह अनंत सुख फिर सदा विद्यमान रहता है। उसमें किसी प्रकारकी कमी या अन्तर नहीं पड़ता। जिन भव्य जीवोंको ऐसे सदा रहनेवाले अनंत सुख प्राप्त होनेकी इच्छा हो उन्हें अपने पतको निश्चल कर समता धारण कर प्रयत्नपूर्वक ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। बिना ध्यानके वह अनंत सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

आगे इस शरीरसे ध्यान कर लेना ही उत्तम है ऐसा दिखलाते हैं।

मर्त्यदेहोत्तिनिस्सारो यदलबुक्लायते ।

संसारसिधुनिस्तारे तदत्र यथतो भव ॥ १८१ ॥

अर्थ—यह मनुष्यका शरीर अलंकृत निस्सार है परंतु संसाररूपी महासागरसे पार होनेके लिये तृप्तीकरणमान है। इसलिये ऐसे शरीरको पाकर इस संसारसे पार होनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार तृप्ती एकत्रिनिस्सार पदार्थ है। वह किसी काममें नहीं आती। परंतु नदीसे पार होनेमें वह कारण अवश्य है। उसके सहारेसे मनुष्य नदीसे पार भी हो जाते हैं। उसी प्रकार यह मनुष्यका शरीर भी किसी कामका नहीं है। कत्यंत निःसार है। परंतु यदि इस शरीरसे तपश्चरण और ध्यान किया जाय तो यह मनुष्य सहज ही संसार समुद्रसे पार हो सकता है और मोक्षके अनंत सुखको प्राप्त कर सकता है। मनुष्यजन्म पाकर इस शरीरसे तपश्चरण अवश्य कर लेना चाहिये। इसके प्राप्त होनेका मुख्य फल यही है।

आगे शुभकी प्रवृत्ति भी सहज न हो सकती है ऐसा दिखलाते हैं ।

यदि स्वान्तप्रवृत्त्येव सम्यदेते शुभाशुभै ।

तर्हि स्वान्तं स्वमायत्तं सर्वमेव शुभं सताम् ॥ १८२ ॥

अर्थ— शुभ अशुभ कर्मोंका बंध मनकी प्रवृत्तिसे ही है यह नियम है। तो फिर सज्जन लोगोंको अपना मन अपने वशमें कर लेना चाहिये जिससे कर्मोंका बंध सब शुभ ही हो ।

भावार्थ— यह निश्चित है कि शुभाशुभ कर्मोंका बंध मनकी प्रवृत्तिसे ही होता है। मनकी शुभ प्रवृत्तिसे शुभ कर्मोंका बंध होता है। और अशुभ प्रवृत्तिसे अशुभ कर्मोंका बंध होता है। तथा मनकी प्रवृत्ति अपने हाथमें है। हम चाहें तो मनमें सदा शुभ विचार ही बनाये स्व सकते हैं और चाहें तो सदा अशुभ विचार ही कर सकते हैं। यह बात ठीक है कि मन चंचल है, वह निश्चल नहीं रह सकता। कुछ न कुछ प्रवृत्ति अवश्य करता रहता है। परंतु धर्म्यासके द्वारा हम उसकी प्रवृत्तिको बदल सकते हैं। उसकी अशुभ प्रवृत्तियोंको रोक सकते हैं और शुभ प्रवृत्तियोंमें उसे लगा सकते हैं। इसलिये सज्जनोंको उचित है कि मनपर अपना अधिकार स्वर्ग—उसे अपने वशमें करें। और अशुभ प्रवृत्तिमें न लगाने दें। यदि वह अशुभ प्रवृत्तियोंसे रुक जायगा तो फिर उसकी सब प्रवृत्तियाँ शुभ ही होंगी। और इस पकार सहज रीतिसे ही अशुभ कर्मोंका बंध रुक जायगा। फिर उसके सदा शुभ कर्मोंका ही बंध होता रहेगा। यह धर्मध्यानका सहज उपाय है।

आगे धर्मध्यान विना परिश्रमके होता है ऐसा दिखलाते हैं ।

देहायासैर्भवत्येव रौद्रात्तद्यानप्रम्भवः ।

त्रिविधायासनाशे तु धर्मध्यानं प्रवर्तते ॥ १८३ ॥

अर्थ— शरीरके परिश्रम करनेसे रौद्र ध्यान और आत्मध्यान उत्पन्न होता है। परंतु मन, वचन, काम तीनोंके परिश्रमको नष्ट कर देनेमें धर्मध्यान उत्पन्न होता है।

भावार्थ— आर्तध्यान, रौद्रध्यान दोनों ही अश्रुम ध्यान हैं। दोनों ही पापबंधके कारण हैं और दोनों ही शरीरके परिश्रमसे होते हैं। अथवा मन, वचन, काय तीनों योगोंके परिश्रमसे होते हैं। तीनों योगों-की प्रवृत्तिसे होते हैं। परंतु धर्मध्यान उन तीनों योगोंकी प्रवृत्ति न करनेसे होता है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करनेमें शरीरको परिश्रम करना पड़ता है। शरीरकी प्रवृत्तिमें—शरीरके द्वारा काम करनेमें तो शरीरको खेद होता ही है। तथा वचनकी प्रवृत्ति होनेमें—बोलते रहनेमें भी शरीरको खेद होता है। बोलते बोलते भी मनुष्य थक जाता है। इसी प्रकार किसी पदार्थका चितवन वा विचार करते करते भी मनुष्य थक जाता है। उसके मस्तकमें पीड़ा होने लगती है। इस प्रकार मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें शरीरको परिश्रम करना ही पड़ता है। परंतु मन, वचन, कायको वश करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। क्योंकि उसमें कोई क्रिया करनी वी नहीं पड़ती है। तथा मन, वचन, कायको वश करनेसे धर्मध्यान उत्पन्न होता है। इस प्रकार धर्मध्यान तो अनायास ही हो जाता है। उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। और आर्त, रौद्र ध्यानके लिये खेद वा परिश्रम करना पड़ता है। फिर भी पापका बंध होता है। इस लिये मनुष्यमात्रको धर्मध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये। यह सहजमें विना किसी परिश्रमके हो जाता है और परंपरासे मोक्षका कारण है।

आगे निश्चय मनसे ही ध्यान हो सकता है ऐसा दिखलाते हैं।

बहिरन्तस्तमो वातैरस्पन्दं दीपबन्मनः ।

यस्य स्थाद्वीतमोहस्य स व्यानं ध्यातुभर्ति ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है ऐसे जिस पुरुषका मन अन्तर्ग और बहिर्ग अंघकारुण्यी वायुसे चलायमान नहीं होता दीपके समान निश्चल हो जाता है वही पुरुष धर्मध्यानका चितवन कर सकता है।

भावार्थ—जो दीपक वायुके शकोरेसे बचा रहेगा वही दीपक निश्चल ठहर कर प्रकाश कर सकेगा। इसी प्रकार जिस वीतराग वा निर्माही मुनिका मन बहिरंग और अंतरंग अन्धकाररूपी वायुसे बचा रहेगा—जिस मनमें न तो अंतरंग विकार उत्पन्न होंगे और न उसपर बहिरंग पदार्थोंका कुछ असर पड़ेगा—जिसके मनमें कोई किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होगा वही ध्याता ध्यान कर सकेगा। विकार सब मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं इसलिए मनको निर्मल और निश्चल करनेकेरिये मोहको दूर करना चाहिये। बाह्य सब पदार्थोंसे ममत्व हटा देना चाहिये। और इस प्रकार हृदयको शुद्ध निर्विकार और निश्चल बना कर ध्यान करना चाहिये।

आगे मनकी गति दिखलाते हैं।

स्वान्तेनन्तप्रभावेस्मिन् स्वभावात्पारदास्थिरे ।

तस्मिन्ब्रव स्थिरीभूते सिद्धं साध्यं महात्मनाम् ॥ १८५ ॥

अर्थ—इस मनका प्रभाव असंत है परन्तु यह पारेके समान स्वभावसे ही चंचल है। यदि यही मन स्थिर वा निश्चल हो जाय तो फिर महात्माओंके सब साध्य सिद्ध हो गये अमर्जना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार पारा चंचल है उसी प्रकार मन चंचल है। यदि यह मन निश्चल हो जाय तो फिर मोक्ष प्राप्त होनेमें भी देर न लगे। शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाय। अतएव मोक्ष प्राप्त करनेकेरिये मनको निश्चल करनेका अभ्यास करना चाहिये।

आगे ध्यानका लाभ बतलाते हैं।

निव्यापारं मनोहंसे पुंहंसे सर्वथास्थिरे ।

बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोम्परे ॥ १८६ ॥

अर्थ—यदि मनरूपी हंस अपना व्यापार करना छोड़ दे और आत्मरूपी हंस सर्वथा स्थिर होजाय तो फिर इस तीनों लोकरूपी सरोवरमें ज्ञानरूपी हंसकी ही प्रवृत्ति हों जाय।

भावार्थ— यह तीनों लोक एक प्रकारका सरोवर है । इसमें आत्मा चारों और परिभ्रमण किए करता है । मन सब और अपना व्यापार किया करता है । जब तक आत्माका परिभ्रमण और मनका व्यापार प्रचलित रहता है तब लक्ष ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । जब आत्माका परिभ्रमण रुक जाता है और मनका व्यापार बंद हो जाता है तथा शुद्ध ध्यानकी प्राप्ति हो जाती है तभी यह आत्मा उस निश्चय-ध्यानके प्रभावसे समस्त कर्मोंको छष्ट कर तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेवाले केवल ज्ञानको प्राप्त कर लेता है । इसीलिये कहा है कि इस तीनों लोकरूपी सरोवरमें केवल ज्ञानरूपी हंसकी प्रवृत्ति तभी होगी जब कि आत्मा स्थिर हो जायगा और मनका व्यापार बंद हो जायगा । अतएव परमात्म पद प्राप्त करनेकेलिये मनको निश्चल करना चाहिये । विना मनको निश्चल किये परमात्म पद कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।

आगे आत्माकी शक्ति बतलाते हैं ।

मोहादिशत्रुसन्यानां यस्तान्नैव विधिर्मतः ।

तस्मान् विस्मयेतास्मिन् परंब्रह्म समाश्रितः ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिस आत्माके सामने मोह आदि अंतरंग शत्रुओंकी सेना कुछ काम नहीं कर सकती उस आत्माके अनंत प्रभावको देखकर परमात्मपदको प्राप्त हुए पुरुष इस संसारमें कुछ आश्र्य नहीं करते हैं ।

भावार्थ—आत्माकी अनंत शक्ति है । उसके सामने प्रबल भी कर्म कुछ नहीं कर सकते । यद्यपि इस अंतरामें कर्म समस्त जीवोंको दुःख दे रहे हैं । परंतु वे उन्हीं जीवोंको दुःख दे सकते हैं जिनकी आत्मशक्ति प्रगट नहीं है । जिनकी आत्मशक्ति प्रगट हो जाती है उनके सामने कर्म फिर कुछ नहीं कर सकते । आत्मकी ऐसी प्रबल शक्तिको देखकर यद्यपि आश्र्य होना चाहिये तथापि परमात्म पद प्राप्त होजानेपर कुछ आश्र्य नहीं होता है । फिर वह शक्ति स्वाभाविक ही जान पड़ती है । इसलिये निश्चय ध्यानके द्वारा परमात्म पद प्राप्त कर लेना चाहिये ।

आगे ध्यानकी और भी महिमा दिखलाते हैं ।

प्रभावैश्वर्यसंवेददेवतादर्शनाद्ग्रः ।

ध्यानोन्मेषाद्ववन्तोपि नैते कल्पविदां मुदे ॥ १८८ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्यानके प्रभावसे प्रभाव ऐश्वर्य ज्ञान और देवदर्शन आदि अनेक आश्र्य उत्पन्न करनेवाली महिमाएं प्राप्त होती हैं तथापि आत्मतत्त्वको जाननेवाले ध्यानी पुरुषोंमें उनसे कोई भी आनंद प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ—जिन्हें आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो गया है—जिन्हें स्वानुभूतिके परम सुखका आनंद प्राप्त होगया है उन्हें उसी आत्मसंवेदन में—आत्माके अनुभव वा ज्ञानमें परम आनंद प्राप्त होता है । फिर उन्हें प्रभाव ऐश्वर्य अनेक देवोंका आकर दर्शन करना आदि बहिरंग विभूतिमें कुछ भी सुख नहीं मिलता । इसलिये ध्यानके द्वारा आत्मतत्त्व जानना चाहिये—स्वानुभूति प्रगट होनी चाहिए । यही ध्यानका मुख्य फल है ।

आगे इसी स्वानुभूतिको प्रगट करनेवाले ध्यानकी दुर्लभता दिखलाते हैं ।

भूमौ भवन्ति गत्नानि परं सर्वत्र नोद्भवः ।

तथा स्वानुभवं ध्यानं दुर्लभं सर्वदेहिषु ॥ १८९ ॥

अर्थ—भूमिमें रस्ते उत्पन्न होते हैं परन्तु वे सब जगह नहीं होते । उसी प्रकार स्वानुभूतिको प्रगट करनेवाला ध्यान होता है परन्तु वह सब जीवोंके नहीं हो सकता । उसका सब जीवोंके होना अत्यंत कठिन है ।

भावार्थ—यद्यपि स्वानुभूतिको प्रगट करनेवाला ध्यान आत्माका निज स्वभाव है तथापि वह सब प्राणेयोंके नहीं हो सकता । मोहनीय कर्मकी प्रबलता उसे होने नहीं देती । जिन जीवोंके मोहनीय कर्म शांत हो जाता है उन्हींके यह परम ध्यान वे सकता है । इसलिये परम ध्यान और परमात्मपद प्राप्त करनेकेलिये स्वघमे पहले मोहको हटाना चाहिये । मोह और मोहकी सेना कषायादिकर्म नष्ट हो जानंपर वा शांत हो जानेपर वह ध्यान अवश्य हो जाता है ।

आगे ध्यानका समय बतलाती हैं ।

ध्यानमानं वदन्त्यन्तमुहूर्तं मुनयः परम् ।

सुस्थिरं लयमापनं दुर्द्वां तत्परं मनः ॥ १९० ॥

अर्थ — अत्यंत स्थिर और अत्यंत लोन हुए ध्यानका समय मण-घरादि देव अन्तमुहूर्त कहते हैं। अन्तमुहूर्तसे अधिक मन किसी एक पदार्थमें निरंतर ठहर नहीं सकता ॥

भावार्थ — मनका एक जगह स्थिर होना ही ध्यान है। मन अत्यंत चंचल है। उसे अत्यंत बलवान् पुरुष भी अधिक देर तक निश्चल नहीं कर सकता। जिनका संहनन उत्तम है उनके भी अंतमुहूर्तसे अधिक ध्यान नहीं हो सकता। इससे आम किसी एक पदार्थमें मनका रुकना असंभव है ।

आगे ध्यानके कारण बतलाती हैं ।

(निर्वेदोदयसम्पत्तिः स्वान्तस्थैर्यं रहःस्थितिः ।

विविधोर्मिसहत्वं तु साधुनां ध्यानहेतवः ॥ १९१ ॥

अर्थ — संसारके दुःखोंसे डरफर वैराग्यका प्राप्त होना, मनका स्थिर होना, एकान्त स्थानमें निवास करना और अनेक प्रकारके उपसर्गोंके सहन करनेकी शक्तिका होना ये सभा मुनियों के लिये ध्यानके साधन हैं ।

भावार्थ — ध्यानके लिये सर्वप्रे मुख्य साधन वैराग्य है। जबतक इस जीवको वैराग्य नहीं होता तब तक ध्यान हो नहीं सकता । तथा वैराग्य तभी होगा जब कि उसे संसारके दुःखोंसे डर लगे। संसारके अनंत दुःखोंको देखकर उसका आत्मा कंगायमान होगा और इसीलिये संसारको छोड़ देने के लिये सर्वथा तैयार हो जायगा। संसारको छोड़ देनेके लिये तैयार हो जाना ही वैराग्य है। वैराग्य के होजानेपर मनको स्थिर करने की आवश्यकता होती है। मनको ऐंथर वा निश्चल किये बिना भी ध्यान नहीं हो सकता। और मनका निश्चल होना एकांतमें होना है। इन सब साधनों के मिल जानेपर भी यदि अनेक प्रकारके उपसर्ग सहने की शक्ति

न हो तो भी ध्यान नहीं हो सकता ॥ बिना सहन शक्ति के थोड़ासा उ-पद्व भी ध्यानको चलायमान कर सकता है । अतएव ध्यानके लिये इन सब साधनों की आवश्यकता है । ये ध्यानके मुख्य साधन वा कारण हैं ।

आगे ध्यानमें विष्णु करनेवाले कारणों को कहते हैं ।

(स्वान्तास्थैर्य विपर्यासं प्रमादालस्यविभ्रमा ।

रौद्रार्ताधि यथास्थानमेते ऋत्यूहदायिनः ॥ १९२ ॥

अर्थ-मनका निश्चल न होना, यतिकूल ज्ञानका होना, प्रमाद, आलस्य विभ्रम, और ऐसे स्थानकी रासि जिसमें रौद्रध्यान अथवा आर्तध्यान उत्पन्न हो सके—ये सब ध्यानमें विष्णु करनेवाले हैं ।

भावार्थ—यह पहले भी बता चुक्क हैं कि यदि मन न होगा तो ध्यान कभी नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार यदि विपरीत ज्ञान होगा तो भी ध्यान नहीं हो सकेगा । विपरीत ज्ञानमें आत्माके स्वरूपका भी भान नहीं हो सकता फिर स्वानुभूति का होना तो अत्यंत कठिन है । इसलिये विपरीत ज्ञान भी ध्यानका बाधक है । प्रमाद और आलस्यके होनेसे भी मन निश्चल नहीं हो सकता और न आत्मा किसी पदार्थका चित्तबन कर सकता है । इसलिये ये छोनों भी ध्यानके बाधक हैं । इसी प्रकार ध्यानकी अनिच्छा अथवा कात्मस्वरूपके जाननेकी अनिच्छा वा स्वानुभूतिके प्रगट होनेकी अनिच्छा भी ध्यानकी बाधक है । क्योंकि अनिच्छासे आत्माका उत्साह नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार जिन स्थानोंमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान उत्पन्न होनेकी संभावना हो वहाँ भी चित्त विचलित ही रहता है । इसलिये ध्यान करते समय ऐसे स्थानोंका परित्याग कर देना भी अत्यावश्यक है । जो ध्याता इन सब विष्णु बाधाओंसे बचकर ध्यान करता है वही उत्तम और निर्विष्णु ध्यान कर सकता है ।

आगे शुद्ध ध्यानकी महिमा किस्मत है ।

शुद्धध्यानसुधाम्भोधिविन्दुप्यालिहन् मुहुः ।

भव्यो ध्रुवं समायाति शिवश्शीसदनस्थितिम् ॥ १९३ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव शुद्ध ध्यानरूपी अमृतके समुद्रकी एक बूँदका भी बार बार स्वाद लेता है वह अवश्य ही मोक्षलक्ष्मीके महलमें जा विराजमान होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार अमृतकी एक बूँदका स्वाद भी अपूर्व आनंदको देनेवाला है उसी प्रकार शुद्ध ध्यान भी एक अमृतका महासागर है । सागरमें अनंत जल होता है और शुद्ध ध्यानमें अनंत सुखामृत भरा हुआ है । इस सुखामृतका कहीं पार नहीं है । अतएव जो भव्य जीव इसकी एक बूँदका भी बार बार स्वाद लेता है—शुद्ध ध्यानको बार बार धारण करता है वह मोक्ष लक्ष्मीके अनंत सुखोंको अवश्य प्राप्त होता है । इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ।

आगे—जो शुद्ध ध्यान धारण नहीं कर सकता उसे रूपस्थ ध्यान धारण करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं ।

यदि शुद्धात्मनो ध्यानं व्यातुं नेवेह पार्यते ॥

मूर्तिरूपः प्रभूः स्वान्ते सर्वदा ध्यायतां ततः ॥ १९४ ॥

अर्थ—जो ध्याता शुद्ध आत्माका ध्यान धारण नहीं कर सकता उसे सदा मूर्तिरूप भगवान् अरहंत देवका ध्यान धारण करना चाहिये ।

भावार्थ—शुद्ध आत्माके ध्यान करनेकेलिये अपने आत्माके अत्यंत शुद्ध होनेकी आवश्यकता होती है । शुद्ध आत्मा ही शुद्ध आत्माका ध्यान कर सकता है । काम क्रोध मोह आदि विकारोंसे जटिल आत्मा शुद्ध आत्माका ध्यान कभी नहीं कर सकता । अतएव जिसका आत्मा इन विकारोंसे रहित नहीं हुआ है उसे भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना चाहिये ।

आगे उन्हीं अरहंत देवका स्वरूप दिखलाते हैं ।

देवं देवसभासंस्थं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥

सर्वातिशयसंभारं सर्वेश्वर्यक्रसाधितम् ॥ १९५ ॥

सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं सर्वेश्वर्यमनीश्वरम् ॥

सर्वाग्रध्यमनाराध्यं सर्वाश्रमनाश्रयम् ॥ १९६ ॥

प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वविशिष्टिमहम् ।
 सर्वसत्त्वहितारम्भं सर्वातीतमतीन्द्रियम् ॥ १९७ ॥
 नग्रामरशिरोरत्नविद्योतितपद्मद्वयम् ॥
 स्तूपमानं महाविद्यै ब्रह्माद्यैव्रह्मधारिभिः ॥ १९८ ॥
 निरूपं रूपिताशेषमशब्दं शब्दशाश्वतम् ॥
 निःस्पर्शं बोधसंस्पर्शमरसं स्तम्भस्तवम् ॥ १९९ ॥
 शीलैः सुरभितात्मानं शीलामृतमहाम्बुदम् ॥
 व्यतीतेन्द्रियसम्बन्धमिन्द्रियार्थविभासनम् ॥ २०० ॥
 भुवनानन्दसस्थानामम्भस्तापमलापहम् ॥
 पवनं दोषधूलीनां वन्हिमेनोमहीरुहाम् ॥ २०१ ॥
 सर्वप्रदं सदर्थानां व्योमालेषादिसम्पदाम् ॥
 भानुं भव्यारविन्दानामिन्दुं शर्मामृतश्रियाम् ॥ २०२ ॥
 ध्यायेद्विश्वत्रयाधीशमहन्तं गर्वसम्पदे ॥
 सर्वादभुतमहाविद्यास्थानं ज्ञिवपदे स्थितम् ॥ २०३ ॥

अर्थ— जो भगवान् अरहंत देवादेवाधिदेव हैं, आठों प्रातिहायोंसे शोभायमान, समस्त चौंतीसों अतिशयोंसे मुशोभित समवसरण सभामें विराजमान हैं, जिन्होंने अपने अन्तरंग वहिरंग समस्त ऐश्वर्य सिद्ध कर लिये हैं, तीनों लोकोंके हंद्रादि समस्त महापुरुष जिनकी स्तुति करते हैं तथापि जिनकी स्तुति किसीसे भी नहीं हो सकती, जो सबके ईश्वर—इन्द्र चक्रवर्ती आदि सब जिन्हें अपना परम ईश्वर मानते हैं, तथापि जो किसी के ईश्वर नहीं हैं—अपना स्वामीपना किसीपर प्रगट नहीं करते हैं। अथवा जिनका अन्य कोई ईश्वर नहीं है। वे स्वयं ईश्वर हैं। तीनों लोकोंके समस्त जीव जिनकी आराधका करते हैं तथापि जिनकी आराधना किसीसे हो नहीं सकती। जो भगवान् समस्त जीवोंके आश्रय हैं सब जीव जिनकी शरणमें आकर आश्रय लेते हैं तथापि वे भगवान् किसी के आश्रय नहीं हैं ॥ १९६ ॥

जो भगवान् समस्त विद्याओंको उत्पन्न करनेवाले हैं, जिनसे समस्त विद्याएँ प्रगट हुई हैं, जो तीनों लोकोंके महापुरुष वा आदिपुरुष हैं, जिनकी समस्त विहार आदि क्रियाएँ अथवा समस्त आरंभ तीनों लोकोंके जीवोंके हितकेलिये ही होते हैं, विहार करते हुए दिव्य उपदेश देकर जो समस्त भव्य जीवोंका कल्याण करते हैं, जो सांसारिक समस्त जगड़ोंसे रहित हैं, जिनका स्वरूप इंद्रियोंके द्वारा जाना नहीं जा सकता ॥ १९७ ॥

जिनके दोनों चरणकमल नमकार करते हुए इंद्रादि देवोंके मस्तकोंमें [उनके मुकुटोंमें] लगे हुए रत्नोंकी प्रभासे सदा दैदीप्यमान रहते हैं, ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाले आनन्दार्थ, उपाध्याय, साधु, तथा ब्रह्मा विष्णु महेश और महाविद्याओंको आरण करनेवाले गणधरादिक देव सब जिनकी स्तुति करते हैं ॥ १९८ ॥

जो रूप रहित अरूपी हैं, किन्होंने अपने रूपका प्रभाव समस्त संसारपर डाल रखा है, जो शब्द रहित हैं, तथापि जिनका दिव्योपदेश सदा विद्यमान रहता है, जिनका निरूपण किया हुआ मोक्षमार्ग, सदा विद्यमान रहता है । जो स्पर्श रहित हैं । कोई भी जिनका स्पर्श नहीं कर सकता, तथापि केवलज्ञानके द्वारा जिनका स्पर्श किया जा सकता है—ज्ञानके द्वारा जिनका स्वरूप जाना जा सकता है, जो इस रहित हैं तथापि जिनकी स्तुति सरस है, जिनकी स्तुति करनेमें बड़ा ही आनंद आता है, जिन्होंने शीलके अठारह हजार भेदोंको पूर्ण रीतिसे पालन कर अपने आत्माको सुमांधित कर दिया है, जो शीलरूपी अमृतको बरसानेकेलिये महाबादलोंके समान हैं, जिन्होंने इंद्रियोंका संबंध सब छोड़ दिया है तथापि जो इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले हैं, जो संसारी समस्त जीवोंके आनंदरूपी छोटे छोटे धान्यके ही पौधोंको बढ़ानेकेलिये तथा संताप और मलको दूर करनेकेलिये निर्मल जलके समान हैं, दोषरूपी धूलिको

उडानेकेलिये वायुके समान हैं, पापरुदी वृक्षोंको जलानेकेलिये अग्निके समान हैं, जो संसारी जीवोंको धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके देनेवाले हैं, आकाशके समान समस्त उपदाओंसे अलिस हैं, भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यके समान हैं, कल्याणरूपी अमृत लक्ष्मीको देनेकेलिये जो चंद्रमाके समान हैं, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, जो अद्भुत महाविद्याओंके उत्पत्तिस्थान हैं और जो जीवित अवस्थामें ही कल्याणमय मोक्ष स्थानमें विगजमान हैं। ऐसे भगवान् अरहंत देवका ऊपर लिखी हुई समस्त संपदाओंको प्राप्त करनेकेलिये ध्यान करना चाहिये ।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवमें अनंत गुण हैं और अनंत शक्ति है। उन सबका स्मरण करते हुए उनका ध्यान करना चाहिये। उनका ध्यान करनेसे वे समस्त संपदाएँ और समस्त गुण व शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो गृहस्थ वा मुनि रूपातीत ध्यान नहीं कर सकते, सिद्धों का ध्यान नहीं कर सकते—शुद्ध आत्माका ध्यान नहीं कर सकते उन्हें अरहंत भगवानका ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

सिद्धं बुद्धं शिवं शान्तं सर्वदं प्रवृत्तनिदितम् ।

सर्वीर्यं सर्वशाखानां हितं हितादे स्थितम् ॥ २०४ ॥

अर्थ—वे भगवान् अरहंत देव सिद्ध हैं, बुद्ध हैं कल्याणमय हैं, शान्त हैं, समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, सब लोगोंके द्वारा वंदनीय हैं, अनंतशक्तिसे सुशोभित हैं, समस्त जीवोंके कल्याण करनेवाले वा सबका हित करनेवाले हैं और कल्याणमय स्थानमें विगजमान हैं ।

भावार्थ—अरहंत देवके ये सब गुण हैं। उनका ध्यान करते समय इन सब गुणोंका चित्तवन करना चाहिये ।

आगे अरहंतदेवके ध्यान करनेका पाल दिखलाते हैं ।

प्राहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रपदोदयः ।

तस्मादपि हि लभ्यन्ते शर्मदाः सर्वसम्पदः ॥ २०५ ॥

अर्थ—भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेसे परम ब्रह्म पदकी प्राप्ति होती है, उन्हींका ध्यान करनेसे इंद्र पदकी प्राप्ति होती है, और उन्हीं भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेसे कल्याण करनेवाली समस्त संपदाएं प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—भगवान् अरहंतदेवका आत्मा परम शुद्ध है इसलिये उनका ध्यान करनेसे अपना आत्मा भी शुद्ध हो जाता है तथा अतिशय पुण्यकी प्राप्ति होती है। उस अतिशय पुण्यके प्रभावसे सब संपदाएं, सब सुख, सब कल्याण प्राप्त होते हैं। इंद्र चक्रवर्ती आदिके परमपद प्राप्त होते हैं और अरहंतदेवका परमपद प्राप्त होता है। इसलिये उनका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

आगे फिर भी अरहंतदेवका स्वरूप दिखलाते हैं।

ध्येयमध्यात्मतीर्थेषु सुसर्वद्य यदिष्यते ।

तदेव तस्य स्वं रूपं नीरूपं रूपितात्मनः ॥ २०६ ॥

अर्थ—अध्यात्म तीर्थमें जिस पदार्थका ध्यान करना चाहिये और जिसे अच्छी तरह मनन करना चाहिये ऐसा पदार्थ संसार भरमें जो उत्तम गिना जाता है वही अपने आत्माके स्वरूपको प्राप्त करनेवाले भगवान् अरहंत देवका स्वरूप है और वह अरूपी वा अहश्य है।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवका निज स्वरूप ही ऐसा है कि जो केवल आत्माके द्वारा आत्मामें लीक होकर ध्यान किया जा सके और जिसका अनुभव मनन वा ज्ञान अच्छी तरह करने योग्य हो। इसीलिये वह ध्येय गिना जाता है। वह अरहंत देवका स्वरूप अरूपी है, इंद्रियोंके अगोचर है; साधारण संसारी जीवोंके गम्य नहीं है। केवल योगी जन ही उसका ध्यान कर सकते हैं।

आगे अरहंतदेवके ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं।

तपःश्रुतिविहीनोपि तद्वज्ञानाविद्वमानसः ।

न देही दद्यते तीव्रैर्द्वस्माहैर्भवत्वन्हिमिः ॥ २०७ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने हृदयमें भगवान् अरहंत देवका ध्यान करता है वह तपश्चरण न करने पर भी तथा शास्त्र ज्ञानसे रहित होनेपर भी अत्यंत तीव्र और असह्य ऐसी संसाररूपी अग्निसे नहीं जलता ।

भावार्थ—संसारके दुःख अग्निके अमान हैं । उनसे यह प्राणी सदा जलता रहता है । वे दुःख अत्यंत तीव्र हैं और अत्यंत असह्य हैं । उनके दूर करनेका उपाय तपश्चरण और शास्त्रज्ञान है । क्योंकि वे दुःख कर्मों के उदयसे होते हैं और वे कर्म तपश्चरण व शास्त्रज्ञानसे नष्ट होजाते हैं । कर्मोंके नाश होनेपर दुःख अपने आप झ़र हो जाते हैं । इस प्रकार यद्यपि दुःखोंके दूर करनेका उपाय तपश्चरण और शास्त्रज्ञान है । तथापि भगवान् अरहंत देवका ध्यान इनसे भी बढ़कर है । वह अरहंत देवका ध्यान विना तपश्चरण और विना शास्त्रज्ञानके अकेला ही संसारके समस्त दुःखोंको दूर कर देता है । इसलिये संसारी प्राणियोंको अपने दुःख दूर करनेकेलिये और अनंतसुख प्राप्त करनेकेलिये भगवान् अरहंत देवका ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

आगे और भी इस ध्यानकी पहिमा दिखलाते हैं ।

समधीत्यापि सिद्धान्तं विधायापि परं तपः ।

मन्त्रमेनं स्मरन्त्येव यत्योनन्यमानसाः ॥ २०८ ॥

अर्थ—परम मुनिराज सिद्धांतशास्त्रोंको अच्छी तरह पढ़कर भी और उत्कृष्ट तपश्चरण धारण करके भी एकास्त्रित होकर इस मंत्रका स्मरण करते हैं ।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवके ध्यान करनेका मंत्र इतना उत्तम और इतना पवित्र है कि इसे बड़े बड़े मुनिराज चित्तवन करते हैं और वे भी समस्त सिद्धांतशास्त्रोंके पारगामी होकर और उत्तमोत्तम घोर तपश्चरण पालन करने पर भी एकाग्र चित्तसे नित्यवन करते हैं । भगवान् अरहंत देवका ध्यान उत्कृष्ट तपश्चरण और श्रुतज्ञानसे भी बढ़कर है ।

मंत्रोयं स्मृतिधाराभिः स्तान्ते यस्याभिर्वर्षति ।

तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति भीमोपद्रवपांशवः ॥ २०९ ॥

अर्थ—यह मंत्र अग्ने चित्तवनकी धारासे वरसकर जिसके मनको सिंचन करता है उसके मनके समस्त भयंकर उपद्रवरूपी धूलिके कण शांत हो जाते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार वर्षा होनेसे सब धूलि दूध जाती है । जहाँ धारापूर्वक जोरकी वर्षा होती है वहाँ धूलिका एक कणा भी नहीं रह सकता । उसी प्रकार जिसके मनमें भगवान् अरहंत देवका ध्यान होता है उसके मनमें फिर कोई उपद्रव नहीं हो सकता । यह ध्यान उपद्रवरूपी धूलिको शांत करनेकेलिये वर्षके स्रमान है । इसलिये भगवान् अरहंत देवके नामका जप गृहस्थाँको वा मुनियोंको अवश्य करना चाहिये ।

(पवित्रो वाऽपवित्रो वा श्रुस्थितो दुःस्थितोपि वा ।

भवत्येत्स्मृतेदेही मन्दिरं सर्वमम्भदाम ॥ २१० ॥

अर्थ—यह मनुष्य चाहे पवित्र हो जाहे अपवित्र हो, चाहे अच्छी दशामें हो; और चाहे बुरी दशामें हो इस मंत्रके स्मरण करने मात्रसे ही समस्त संपत्तियोंका मंदिर बन जाता है ।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवके ध्यनकेलिये जिस प्रकार अंतर्गत शुद्धिकी आवश्यकता है उसी ग्रन्थ बाहरकी शुद्धिकी आवश्यकता भी है । स्नानादि कर शुद्ध होनेके बाद ध्यान करनेसे उस ध्यानमें मन अच्छा लगता है तथापि यदि कोई मुनि वा साधक रोगी हो वा अंतिम अवस्थामें हो मृत्युके सन्मुख हो और उस समय पवित्र और शुद्ध होनेकी कोई संभावना न हो तो भी उसे उस समय वैसी अवस्थामें भी भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना चाहिये । यह ध्यान समस्त संपत्तियोंको देनेवाला है, समस्त ऋद्धि, सिद्धियोंको पूरा करनेवाला है । इसलिये अच्छी बुरी कैसी ही अवस्था क्यों न हो, दुःखी सुखी पवित्र अपवित्र कैसा ही क्यों न हो उसे भगवान् अरहंत देवका ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

आगे ध्यानकी भावना कब हो सकती है सो दिखलाते हैं ।

विनाशे सर्वपापानां ध्याने भवति भावना ।

पापोपहत्वुद्धीनां ध्यानवाच्चापि दुर्लभा ॥ २११ ॥

अर्थ— जब समस्त पापोंका नाश हो जाता है तभी हृदयमें ध्यान करनेकी भावना प्रगट होती है । जिनकी बुद्धिमें पाप भरे हुए हैं अनेक पापोंसे जिनकी बुद्धि मारी गई है उनके मनमें ध्यान करनेकी बात उत्पन्न होना भी अत्यंत कठिन है ।

भावार्थ - समस्त कर्मोंमें मोहनीय कर्म पबल है । मिथ्यात्व भी उसीका एक भेद है । उस मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवकी बुद्धि विपरीत हो जाती है । उसपर परदा गड़ जाता है और फिर वह कभी भी अपने हितकी बात नहीं सोच सकता । ऐसी अवस्थामें भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना अत्यंत ही कठिन है, असंभव ही समझना चाहिये । ध्यान करना तो दूर रहो; ध्यान करनेकी बात भी उसके मनमें कभी उत्पन्न नहीं होती है । जब कभी काललिंग पाकर उसका मिथ्यात्व कर्म नष्ट होता है; सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है तभी भगवान् अरहंत देवमें रुचि उत्पन्न होती है और तभी वह उनका ध्यान कर सकता है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के ध्यान करनेकी योग्यता बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है । उत्तम कुल, उत्तम धर्म और ध्यानकी योग्यता पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिये । भगवान्‌का ध्यान अवश्य करते रहना चाहिये ।

आगे ध्यान करनेवालेके पाप नहीं आ सकते ऐसा उदाहरण देकर दिखलाते हैं ।

दधिभावमितं स्तन्यं न पुनः स्तन्यतां श्रयेत् ।

तद्वद् ध्यानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥ २१२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी दृश्यका दही जम जानेपर फिर उस दही का दूध नहीं बन सकता उसी प्रकार जिसका आत्मा ध्यानसे अत्यंत विशुद्ध होगा है वह कभी भी गांगोंगे लिप्त नहीं हो सकता ।

भावार्थ—अनादि संसारमें यह आत्मा कर्मोंसे लिप्त हो रहा है और क्रोधादि कषायोंसे अशुद्ध हो रहा है। यदि एकवार भी इस आत्माके क्रोधादिक कषाय और मिथ्यात्म कर्मोंशांत हो जाय तथा भगवान् अरहंतदेवके पवित्र ध्यानसे यह आत्मा शुद्ध हो जाय तो फिर वह आत्मा अशुद्ध नहीं हो सकता फिर उसके क्रोड़ भी पाप कर्म नहीं आ सकते। पाप कर्म कषायोंसे आते हैं और कषाय भगवान् के ध्यानसे सब नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भगवान् का ध्यान करनेवालेके कभी पापकर्म नहीं आसकते।

आगे ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं ।

यायाद् व्योम्नितरे तोये । निषीदेद्वास्वरेनले ।

मनोमरुत्प्रभावस्थः शस्त्ररोमे न बाध्यते ॥ २१३ ॥

अर्थ—यह मनुष्य चाहे आवतशके नीचे अगाध जलमें चला जाय और चाहे दैदीप्यमान अग्निमें बैठ चाय। यदि वह मनकी वायुके प्रभावमें विराजमान है तो उसे कहीं भी वाधा नहीं हो सकती; उसे अनेक शस्त्रोंसे भी किसी प्रकारकी वाधा नहीं पहुंच सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार वायुके प्रभावमें बैठा हुआ मनुष्य पानीमें नहीं झूब सकता वह ऊपर ही तैरता रहता है उसी प्रकार जो पुरुष भगवान् के ध्यानरूपी वायुके भीतर बैठ जाता है वह अगाध जलमें भी कभी कहीं झूब सकता। न वह अग्निमें जल सकता है; क्योंकि जिस प्रकार वायु अग्निको दूर हटा देती है उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु भी अग्निको हटा देती है। भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेवाला किसी भी आपत्तिमें नहीं फूस सकता और न उसपर किसी शस्त्रका प्रहार हो सकता है।

रूपं स्पर्शं रसं शब्दं सौरभं दूरतः स्थितम् ।

प्रत्यासन्नमिवादते तत्त्वस्याभ्यासतो मुनिः ॥ २१४ ॥

अर्थ—रूप रस गंध स्पर्श और शब्द ये पांचों इंद्रियोंके विषय चाहे

कितनी ही दूर हों परंतु आत्मलत्त्वकार अभ्यास करनेवाले मुनि उन्हें समीप रखने हुएके समान ही ग्रहण कर लेते हैं ।

भावार्थ—भगवान् अरहंत देवका ध्यान करनेसे वा शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे आत्माकी शक्ति तो बढ़ ही जाती है; साथ में इंद्रियोंकी शक्ति भी बढ़ जाती है । ध्यान करने वाला योगी अत्यंत दूर रहनेवाले रूप रस आदि इंद्रियोंके विषयोंको भी ग्रहण कर लेता है । ध्यानकी अपार महिमा है । वह कही भी नहीं जा सकती । इसलिये ध्यान करनेका अभ्यास अवश्य कर लेना चाहिये ।

आगे आत्माकी शुद्धता दिखलांगत है ।

देही शिवः शिवो देही तयोर्भिदो न विद्यते ।

पाशचद्रो भवेदेही पाशहीनः सदा शिवः ॥ २१५ ॥

अर्थ—यह आत्मा ही मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा है । आत्मा और मोक्षमें कोई किसी प्रकारका अन्तर नहीं है । कर्मोंसे लिप्त हुआ आत्मा संसारी आत्मा कहलाता है और कर्मोंमें रहित आत्मा मोक्ष वा मुक्तात्मा कहलाता है ।

भावार्थ—कर्मोंसे लिप्त हुआ यह आत्मा अनादि कालसे पंचपरावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण कर रहा है । जिस समय यह आत्मा भगवान् अरहंत देवका ध्यान कर कर्मोंसे रहित हो जाता है उसी समय वही आत्मा मुक्त हो जाता है । इसलिये आत्मा और मोक्षमें कोई अंतर नहीं है । मोक्ष शुद्ध आत्मस्वरूप है और शुद्ध आत्मा मोक्षस्वरूप है । अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भगवान्का ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

स्वभावान्मलिनो देहः पुमान्स्त्यंतनिर्मलः ।

देहाद्विन्द्रियैनं ध्यायताऽनित्यनिर्मलः ॥ २१६ ॥

अर्थ—यह शरीर स्वभावसे ही मलिन है और आत्मा स्वभावसे ही अत्यंत निर्मल है । इसलिये इस आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न मानकर आत्माके नित्य निर्मल स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ।

भावार्थ— आत्माका स्वभाव भिन्न है और शरीरका स्वभाव भिन्न है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानम्‌ है और अत्यंत निर्मल है। तथा शरीर जड़ है। हड्डी, मांस, रुधिर आदि अत्यंत अपवित्र और मलिन वस्तुओंसे बना हुआ है। अतएव आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझना चाहिये और उसके स्वयं शुद्ध स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

आगे यह आत्मा कभी मलिन नहीं होता ऐसा दिखलाते हैं।

(तोयमध्ये यथा तैलं नैव त्रोयेन लिप्यते ।

तथा शरीरमध्येषि न मलौर्लिप्यते पुमान् ॥ २१७ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पानीमें पड़ा हुआ तेल पानीसे कभी लिस नहीं होता उसी प्रकार मलिन शरीरमें रहता हुआ भी यह आत्मा शरीर-की मलिनतासे कभी मलिन नहीं होता।

भावार्थ—पानीमें पड़ी हुई तिलकी ब्रंद अलग ही रहती है। उसपर पानीका कुछ असर नहीं होता। उसी प्रकार आत्मापर शरीरका कुछ असर नहीं होता। शरीरकी मलिनतासे आत्मा मलिन नहीं हो जाता। मलिन शरीरमें रहता हुआ भी वह शुद्ध ही रहता है। इसलिये ऐसे शुद्ध आत्माका ध्यान अवश्य करना चाहिए।

आगे उदाहरण देकर आत्माको शरीरसे भिन्न करनेका उपाय बतलाते हैं।

दधः सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरतः ।

भिन्नो विधीयते नूनं भेदार्दिव्याविशारदैः ॥ २१८ ॥

अर्थ— जस प्रकार दहीको जिलोकर उसमेंसे भी अलग निकाल लेते हैं उसी प्रकार जो योगी आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न समझनेमें चतुर हैं वे ध्यानके द्वारा इस शरीरसे शुद्ध आत्माको सर्वथा भिन्न कर लेते हैं।

भावार्थ—जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि इस दहीमें भी है और वह अलग निकाला जा सकता है तब तक उसको अलग निकालनेके

लिये कोई उपाय भी नहीं करता । जब लोगोंको यह मालूम हो जाता है कि इसमें धी है तब लोग उसका मंथन कर उसमेंसे धीको अलग निकाल लेते हैं । इसी प्रकार जब तक आत्मा और शरीरमें भेदभाव मालूम नहीं होता; मिथ्यात्व कर्मका उद्यय उस भेदभावको नहीं होने देता तब तक कोई भी पुरुष इसको अलग करने का उपाय नहीं करता । मिथ्यात्व कर्मके शांत होनेसे जब आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्रगट हो जाती है तभी वह योगी भगवान् अरहंत देवके ध्यानके द्वारा अथवा अपने शुद्ध आत्माके ध्यानके द्वारा मंथन कर अपने शुद्ध आत्मको शरीरसे अलग कर लेता है ।

ध्यानामृतान्तरसानां मैत्रीरासामुपेयुपाम् ।

तत्रैव रमते स्वांतं तत्त्वविद्याम्पार्थिनाम् ॥ २१० ॥

अर्थ—जो मुनि ध्यानरूपी अमृतके भोजनसे तृप्त हो रहे हैं जो समस्त जीवोंमें मैत्री रखनेकी भावना रूपी खीको प्राप्त करना चाहते हैं और आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुए आनंदरसको पीना चाहते हैं ऐसे योगी योंका मन उसी शुद्ध आत्मामें जाकर लीन होता है ।

भावार्थ— योगी लोग सदा ध्यानसे ही तृप्त होते हैं । विना आत्म-ध्यान किये उन्हे आनंद और सुख मिलता ही नहीं । वे योगी सब जीवोंपर क्षमा धारण करते हैं । किसी भी प्राणीको किसी प्रकारका कोई दुःख न हो ऐसी भावना उनकी सदा श्रियमान रहती है । तथा वे आत्मज्ञानसे उत्पन्न होने वाले अपूर्व आनंदरस पीनेकी सदा इच्छा किया करते हैं । इसीलिये उनका मन सदा उसी शुद्ध आत्मामें लगा रहता है । अतएव ध्यान करनेकी इच्छा करने वालोंको सदा इन भावनाओंका ही चिंतन करते रहना चाहिये ।

आगे ध्यानकी महिमा दिखलाते हैं ।

प्रातः प्रातः समुत्थाय तदित्यं समयती ।

ध्यानाभ्यामरतो भूत्वा भवभावं व्यपोहते ॥ २२० ॥

अर्थ— सामायिक करनेवाला व्रती पुरुष प्रतिदिन प्रातःकाल उठाकर इस प्रकार जो ध्यानके अभ्यास करनेमें लीन होता है वह अपने जन्ममरण रूप संसारको बहुत शीघ्र बाष्ट कर देता है।

भावार्थ— सामायिक प्रतिदिन करना चाहिये और प्रातःकाल उठते ही करना चाहिये। तथा उस सामायिकमें भगवान् अरहंत देवका ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान करनेवाला पुरुष बहुत ही शीघ्र जन्ममरणसे छूट कर मुक्त हो जाता है।

आगे सामायिकके बादकी क्रिया बतलाते हैं।

सूरोदये पुनः स्नात्वा त्रिधा पावित्रसंस्थितः ।

पुष्पादिभिः स्वयं देवं प्रमुपासीत सर्वदा ॥ २२१ ॥

अर्थ— तदनंतर सूर्यके उत्तर होनेपर स्नान करना चाहिये और फिर मन, वचन, कायसे शुद्ध होकर पुष्पादि द्रव्योंसे प्रतिदिन स्वयं भगवान् अरहंत देवकी पूजा करना चाहिये।

भावार्थ— सूर्योदयसे पहिले सामायिक कर लेना चाहिये और फिर सूर्योदयके बाद स्नान कर पूछन करना चाहिये।

तीर्थेशासनिधानेपि प्रतिमा धर्महेतवे ।

वैनतेयस्य मुद्रापि विषं इन्ति न संशयः ॥ २२२ ॥

अर्थ— यदि उस समय तर्थिकर परम देव स्वयं विद्यमान हों तो उनकी पूजा करनी चाहिये। यहि उनका संयोग न हो तो फिर उनकी प्रतिमाका पूजन करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार गरुडकी मुद्रा भी निःसंझेह विषको दूर कर देती है उसी प्रकार भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमासे भी धर्मकी ही वृद्धि होती है।

भावार्थ— कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अरहंत देवकी पूजा तो करनी चाहिये, परंतु उनकी प्रतिमाकी पूजासे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे लोगोंके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि जिस प्रकार गरुडसे सर्पका विष दूर होता है, उसी प्रकार गरुडकी मुद्रासे भी सर्पका विष दूर हो जाता

है। ठीक इसी प्रकार जैसे भगवान् अरहंत देवके पूजनसे धर्मकी शुद्धि होती है; पुण्यका बंध होता है उसी यकार अरहंत देवकी प्रतिमाके पूजनसे भी वैसी ही धर्मकी शुद्धि होती है और वैसे ही पुण्यका बंध होता है। इसलिये सूर्योदयक बाद स्नान कर भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमाका पूजन अवश्य करना चाहिये।

आगे पूजा करनेकेलिये शुद्धताङ्का वर्णन करते हैं।

मध्यशुद्धि बहिःशुद्धि विद्धमात्तदुपासने ।

पूर्वा स्पात् स्वान्तनैर्मल्यात्प्र स्नानाद्यथाविधि ॥२२३॥

अर्थ—भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनेके लिये अंतरंग शुद्धि और बहिरंग शुद्धि दोनों प्रकारकी शुद्धि कर लेनी चाहिये। इनमेंसे मनके बुरे भावोंको छोड़कर निर्मल करना अंतरंग शुद्धि है और विधि-पूर्वक स्नान करना बहिरंग शुद्धि कहलाती है।

आगे इन्हीं शुद्धियोंको बतलाते हैं।

स्नात्वा देवं स्पृशेन्नित्यं ब्रह्मत्रिलोपने ॥

स्नानाद्विना सदारस्य निष्फलो दैवतो विधिः ॥२२४॥

अर्थ—गृहस्थियोंको सदा स्नान करके ही भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमाका स्पर्श करना चाहिये। इसका कारण यह है कि गृहस्थोंका ब्रह्मचर्य अखंड नहीं रहता, उसका खंडन होता ही रहता है। ऐसे सहित रहनेवाले गृहस्थोंको बिना स्नान किये अरहंत देवकी पूजा आराधना करना सब व्यर्थ है।

भावार्थ—गृहस्थोंको स्नान करके ही देवपूजन करना चाहिये। बिना स्नान किये कभी देवपूजन नहीं करना चाहिये।

आगे संयमियोंकी शुद्धि बतलाते हैं।

ब्रह्मत्रिलोपपञ्चस्य सर्वारम्भविर्मतेः ।

तोयस्नानं बिना शुद्धिमन्त्रशुद्धो हि संयमी ॥२२५॥

अर्थ—जो तृणं ब्रह्मचर्य ब्रह्मको पालन करते हैं और जिन्होंने

समस्त आरभोंका स्नान कर दिया है ऐसे संयमियोंको विना जलस्नानके भी शुद्धि हो जाती है। क्योंकि संयमी पुरुष सदा मंत्रसे शुद्ध ही रहते हैं।

भावार्थ—मानके कितने हो भेद हैं; उनमें सुख्य दो भेद हैं। मंत्र स्नान और जलस्नान। गृहस्थोंकी शुद्धि विना जलस्नानके होती ही नहीं; परंतु संयमियोंकी शुद्धि, आरभत्यागी ब्रह्मचारियोंकी शुद्धि केवल मंत्रसे ही हो जाती है। उनके लिये बाह्य शुद्धि अपने अपने किये हुए दोषोंके अनुसार है। जब तक निर्मलता न आ जाय तब तक शुद्धि अवश्य करते जाना चाहिये।

आगे देवपूजनके लिये कैसी शुद्धता होनी चाहिये सो कहते हैं।

मौनसंयमसम्पन्नेदेवोपास्त्रिविधीयताम् ।

दन्तधावनशुद्धास्येधोत्तवस्त्रपवित्रितः ॥ २२६ ॥

अर्थ—शौचादिकसे निवृत्त डोकर दातौन करना चाहिये। दातौन करके मुखकी शुद्धि करनी चाहिये। फिर स्नान कर धुले हुए पवित्र वस्त्र पहिन कर मौन व्रत और संयम दोनोंको धारण कर भगवान् अरहंत देवकी पूजा उपासना करनी चाहिये।

भावार्थ—मुखशुद्धि शरीरकी शुद्धिके साथ है। मुखशुद्धि करनेसे किसी व्रतमें अंतर नहीं पड़ता। क्योंकि उसमें सिवाय कुछ कर मुखको शुद्ध कर लेनेके और कुछ अभिप्राय नहीं रहता। जिस प्रकार शरीरपर पानी डालकर स्नान कर लेनेमें व्रतका भंग नहीं होता उसी प्रकार दातौन कर मुख शुद्धि कर लेनेमें भी किसी व्रतका भंग नहीं होता। आचार्यवर्य श्री समतभद्र स्वामीनि अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें उपवासके दिन स्नान करनेका भी निषेच किया है। परंतु पूजा करनेकेलिये उपवासके उस दिन भी स्नान करना आवश्यक बताया है क्योंकि विना स्नानके पूजा हो नहीं सकती। तथा मुखशुद्धि स्नानके साथ है। स्नान करनेके पहले मुखशुद्धि अवश्य कर लेना चाहिये।

फिर स्नान कर तुले हुए पवित्र वस्त्र पहनना चाहिये । पूजनमें धोती डुपट्टा ये दो ही वस्त्र उत्तम गिने जाते हैं । पूजन करते समय मौन धारण करना चाहिये । मौन धारण करनेसे अभिप्राय गृहस्थ संबंधी बात चीत करनेका निषेध है । यदि पूजा पाठ पढ़ने वा मंत्र बोलनेका काम पड़े तो उसे वह काम कर लेना चाहिये । क्योंकि वह भी पूजाका ही अंग है । इसी प्रकार पूजा करते समय संयम धारण कर लेना चाहिये । इंद्रियोंके विषयोंका त्याग कर देना चाहिये । और जीवोंकी रक्षाका ध्यान रखना चाहिये । इस प्रकार अंतःग्रा बहिरंग शुद्धि कर भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहिये ।

आगे प्रतिमा स्थापनके लिये कहते हैं ।

सिद्धादीनां शिवस्थानां तथा रत्नत्रयस्य च ।

नामादिभेदतो न्यासो विधीयेऽयथाविधि ॥ २२७ ॥

अर्थ — नाम स्थापना आदिके मंदसे विधिपूर्वक मोक्षमें रहने-वाले सिद्धोंकी स्थापना करनी चाहिये । तथा इसी तरह रत्नत्रय आदिकी भी स्थापना करनी चाहिये ।

भावार्थ — यहाँ स्थापनाका अर्थ धावहान स्थापन नहीं है किंतु नाम स्थापना आदि निषेप है । निषेप सत्येरु पदार्थका प्रत्येक पदार्थमें किया जा सकता है । वहांपर पूजा का प्रकरण है । इसलिये अरहंत सिद्ध रत्नत्रय धर्म आदि जो जो पूज्य हैं उन सबका निषेप करलेना चाहिये ।

आगे उसी निषेपको विशेष रीतिसे बतलाते हैं ।

तन्नामस्थापनाद्रव्यभावादिति भिन्नभेदतः ।

रत्नधातुशिलालोहलेपादौ न्याससम्भवः ॥ २२८ ॥

अर्थ — निषेपके चार भेद हैं; नाम स्थापना द्रव्य भाव । विना गुणोंके ही केवल व्यवहार चलानेके लिये नाम रखलेना नाम निषेप है । जैसे किसी भिन्नारीका नाम भी बादशाह रख लेना । किसी मूर्तिमें

अथवा अन्य किसी पदार्थमें 'यह वही है' ऐसी कल्पना कर संकल्प करलेता स्थापना निष्क्रेप है। जैसे श्री पार्श्वनाथ की मूर्तिमें ये वही पार्श्वनाथ हैं जो समवसरण में विराजमान थे। भूत वा भविष्यतको वर्तमानमें कहना द्रव्य निष्क्रेप है। जैसे राजपुत्रको राजा कहना या जो पहले राजा था, अब नहीं है उसको भी राजा कहना। जो वर्तमानमें जैसे हो उसे वैसा ही कहना भावनिष्क्रेप है। जैसे राजाको ही राजा कहना। यह निष्क्रेप किसी रूपमें किया जा सकता है; धातु, पाषाण, लोहमें किया जा सकता है और लेप आदिमें भी किया जा सकता है। यद्यपि निष्क्रेप चार प्रकारका है तथापि यहांपर गुरुव्य अभिप्राय स्थापना निष्क्रेप स है। स्थापना निष्क्रेप रूप, धातु, पाषाण आदि पदार्थमें करना चाहिये।

देवतांतररूपेषु नैव न्याप्रविधिर्मतः ।

विवाहिता पुनर्बाला नैवान्येन विवाह्यते ॥ २२९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार विवाहित स्त्रीके साथ फिर कोई विवाह नहीं करता उसी प्रकार जिसमें अन्य देवताका निष्क्रेप हो चुका है उसमें फिर निष्क्रेप नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—जिस पाषाणमें वा जिस धातुमें अथवा जिस मूर्तिमें किसी अन्य देवताका निष्क्रेप हो उसमें फिर किसीका भी निष्क्रेप नहीं करना चाहिये। उसमें फिर दुवारं निष्क्रेप करना स्त्रियोंके पुनर्विवाहके समान निषिद्ध है।

आगे संयमी और योगियोंके लिये निष्क्रेपकी विधि कहते हैं।

ये तु ध्यानरताः संतः प्रावद्याद्विरताः सदा ।

व्योम्नि वा हृदि वा न्यासस्तैरेवात्र विधीयते ॥ २३० ॥

अर्थ—जो योगी ध्यानमें लीप हैं और समस्त पापकर्मोंसे रहित हैं वे आकाशमें भी भगवान् अरहंत देवका निष्क्रेप कर पूजा कर सकते हैं अथवा अपने हृदयमें भी स्थापन कर पूजा कर सकते हैं।

भावार्थ—ग्रन्थस्थ लोगोंको स्तो तदाकार प्रतिमामें भगवान् अरहंत

देवकी स्थापना कर पूजा करनी चाहिए। परंतु मुनियोंके लिये यह नियम नहीं है। मुनि लोग भावपूजा करते हैं। उनके परिणाम भी निश्चल होते हैं और वे अमूर्त पदार्थमें भी निश्चल रह सकते हैं। इसीलिये वे मुनिराज आकाश वा हृदयमें भी भगवान् अरहंत देवको विराजमान कर उनकी स्तुति ध्यान वा भावपूजा किया करते हैं।

आगे शुद्ध आत्माका ध्यान करन्वाले योगियोंके लिये निष्क्रेप करनेकी विधि बतलाते हैं।

शुद्धाध्यात्मप्रवृत्तीनां शुद्धध्यानमुपेयुपाम् ।

सतामात्मैव नित्योयं सर्वन्यासमयो भवेत् ॥ २३१ ॥

अर्थ— जो मुनिराज निश्चय ध्यान धारण करनेमें लीन हो रहे हैं और जिनका मन सदा अपने शुद्ध आत्मामें ही लगा रहता ऐसे सज्जन मुनिराजोंके लिये यह नित्य आत्मा ही समस्त निष्क्रेपमय होजाता है।

भावार्थ— योगी गुनिराजोंकी प्रवृत्ति सदा शुद्ध आत्मामें ही बनी रहती है। शुद्ध आत्माके सिवाय उनकी प्रवृत्ति अन्यत्र कहीं नहीं होती। इसलिये यदि वे निष्क्रेप भी करते हैं तो उसी अपने शुद्ध आत्मामें करते हैं। अन्य किसी पदार्थसे वे सम्बन्ध नहीं रखते।

आगे जिनप्रतिमा भी न हो तो कैस प्रकार पूजा करनी चाहिये सो कहते हैं।

पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा या तित्षाः प्रतिमाः स्थिताः ॥

तास्वेव मानसं स्थाप्यमभावे प्रतिमाविधेः ॥ २३२ ॥

अर्थ— यदि जिनप्रतिमाका संयोग न मिले तो फिर पूर्व दिशामें अथवा उत्तर दिशामें जो अकृत्रिम प्रतिमाएँ विराजमान हैं उन्हींमें अपना मन लगा कर भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहिये।

भावार्थ— भगवान् अरहंत देवकी पूजा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके की जाती है अथवा पूर्व दिशाकी ओर मुख करके की जाती है। श्री जिनप्रतिमा पूर्वदिशाकी ओर मुख करके विराजमान करना चाहिये

और फिर स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुख करके उनकी पूजा करनी चाहिये । यदि प्रतिमा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके विराजमान हों तो फिर स्वयं पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी चाहिये । यदि श्री जिन प्रतिमा न हों तो फिर इन्हीं दोनों दिशाओंमें से किसी एक दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी चाहिये और सामनेकी दिशामें जो अकृत्रिम प्रतिमाएं विराजमान हैं उनमें अपना मन लगाना चाहिये । यदि उत्तर दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी हो तो सामने कुलाचल पर्वतों पर, सुमेरु पर्वतपर, जंबू वृक्षपर, गजदंतोंपर जो अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं और उनमें जो प्रतिमाएं विराजमान हैं उनमें अपना मन लगाना चाहिये । यदि पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पूजा करनी हो तो धातकी द्वीप वा पुष्कर द्वीपके मेरु पर्वतपर, गजदंतोंपर, कुलाचल पर्वतोंपर जो अकृत्रिम चैत्यालय हैं और उनमें अकृत्रिम प्रतिमाएं विराजमान हैं उनमें अपना मन लगाना चाहिये । इस प्रकार श्री जिन प्रतिमाके अभावमें अकृत्रिम चैत्यालयोंमें विराजमान जिन प्रतिमाओंकी पूजा करनी चाहिये ।

आगे अकृत्रिम चैत्यालयोंमें विराजमान जिन प्रतिमाओंकी पूजा करनेके लिये कहते हैं ।

मंदरादिषु शैलेषु प्रतिमा याः सनातनाः ।

तासामभिप्रवृत्तेन विधेयो देवतो विधिः ॥ २३३ ॥

अर्थ— मेरु पर्वत, गजदंत पर्वत, कुलाचल पर्वत, वक्षार पर्वत, वैताङ्घ वैताङ्घ आदि जहाँ जहाँ अकृत्रिम प्रतिमाएं सदासे विराजमान हैं उनकी पूजा कर देवपूजाका कार्य अंगपादन करना चाहिये ।

भावार्थ— मध्य लोकमें चागसौ अट्टावन अकृत्रिम जिन भवन हैं, उनकी पूजा कर परिणामोंकी विशुद्धि करनी चाहिये ।

आगे पूजाकी सामग्री बतलात हैं ।

सलिलैः सौरमैस्तैस्तैस्तन्दूलैः पुष्पदामभिः ।

नैवेद्यदीपधूपस्तु फलैरारथयेत्प्रभुम् ॥ २३४ ॥

अर्थ——जल चंदन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप और फल इन आठ द्रव्योंसे भगवान्‌की पूजा करना चाहिये ।

भावार्थ——संसारमें जो जो उत्तम पदार्थ हैं उन सबसे भगवान्‌की पूजा करना चाहिये । ये ऊपर लिखे आठ द्रव्य सर्वोत्तम पदार्थ हैं इसी लिये इनसे पूजा करनी चाहिये । इनके सिवाय गीत नृत्य वादित्र आदिसे भी भगवान्‌की आराधना करनी चाहिये ।

आगे और किन किनकी पूजा करनी चाहिये सो कहते हैं ।

सर्वसंसारसङ्कावभावातीतपथोस्थतान् ।

सिद्धान् शुद्धस्वरूपस्थान् पुण्यादिभिरुपास्महे ॥ २३५ ॥

अर्थ— जो समस्त संसारमें होनेवाले भावोंसे रहित होकर एक निराले ही मार्गमें विराजमान हैं । और सदा अपने शुद्ध स्वरूपमें विराजमान रहते हैं, ऐसे सिद्ध भगवान्‌की पूजा पुण्य आदि आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये ।

भावार्थ— संसारमें पूज्य पुरुष पंच परमेष्ठी हैं । उनमेंसे सबसे पहिले सिद्ध भगवान्‌की पूजा करनेकेलिंपे कहते हैं । भगवान् सिद्ध परमेष्ठी संसारके समस्त भावोंसे रहित हैं । संसारी जीवोंके भाव कर्मोंके उदयके अनुसार होते हैं और सिद्धोंके भाव शुद्ध आत्माके शुद्ध परिणमनके अनुसार होते हैं । संसारी आत्माओंका स्वरूप अशुद्ध है । कर्मोंसे ढका हुआ है और क्रोधादि कषायोंसे लिस है । परंतु सिद्धोंका स्वरूप न तो कर्मोंसे ढका है और न कषायोंमें लिस है । उनका स्वरूप अत्यंत निर्मल और शुद्ध है । ऐसे सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा अवश्य करनी चाहिये ।

आगे अरहंतदेवकी पूजा करनेकेलिये कहते हैं ।

सर्वसत्त्वदयामृतीन् धर्मतीर्थविभायिनः ।

सर्वानप्यहर्तो देवान् पुण्यादिभिरुपास्महे ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो समस्त जीवोंपर होनेवाली स्वाभाविक दयाकी मूर्ति है और जो धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं ऐसे समस्त अरहंत देवोंकी पूजा पुण्यादिक आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये ।

भावार्थ—संसारमें समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाले, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करनेवाले और भव्य जीवोंका सबसे अधिक उपकार करनेवाले भगवान् अरहंत देव हैं। उनके इतना प्रभाव है कि हिंग, सिंह आदि जातिविरोधी जीव भी अगना वैर विरोध सब छोड़ देते हैं और एक जगह बैठकर धर्मोपदेश सुनते हैं। मोक्षमार्गकी पवृत्ति भगवान् अरहंत देवसे ही होती है। वे ही भगवान् सब जाह विहार कर धर्मोपदेश दिया करते हैं। इसलिये सबसे प्रथम पूज्य भगवान् अरहंत देव ही हैं। अतएव जल चंदन पूज्य आदि आठों द्रव्योंसे भगवान् अरहंत देवकी पूजा अवश्य करनी चाहिये।

आगे आचार्य परमेष्ठी की पूजा करनेके लिये कहते हैं।

प्रवर्तयन्ति निःशेषं शास्त्रं संयमेषु ये ।

सूरीन् रत्नत्रयोपेतान् गुण्यादिभिरुपास्महे ॥ २३७ ॥

अर्थ—भगवान् आचार्य परमेष्ठी अपने समस्त संघकी प्रवृत्ति संयममें ही कराते रहते हैं और स्वयं रत्नत्रयसे सदा पवित्र रहते हैं। इसलिये ऐसे आचार्य परमेष्ठीकी पूजा जल चंदन आदि आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी सब संघके नायक हैं, सबको दीक्षा देते हैं, दोष लगानेपर प्रायश्चित्त देते हैं और सबके संयमकी संभाल रखते हैं। इसके सिवाय वे अपने छर्तासि गुणोंको, अट्टाईस मूल गुणोंको भी पालन करते हैं। तथा उत्तर गुणोंको भी पालन करते हैं। वे रत्नत्रयके निधान होते हैं, पंचाचारका पालन करते हैं और सबसे पालन करते हैं। इसलिये उनकी पूजा अवश्य करनी चाहिये।

आगे उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा करनेके लिये कहते हैं।

शिष्येभ्यः सर्वमूलार्थं र्घुष्यादिभिरुपास्महे ।

संयमस्थानुपाध्यायान् गुण्यादिभिरुपास्महे ॥ २३८ ॥

अर्थ—जो उपाध्याय अपने शिष्योंके लिये समस्त सूत्रोंका अर्थ

बतलाते हैं। उसमें किसी प्रकारकी कर्मा नहीं करते। तथा अपने संयमको भी पूर्ण रीतिसे पालन करते हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा जल आदि आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ—उपाध्याय अपने अद्वाइट्स मूल गुण और उत्तर गुणोंका पालन करते हुए भी ग्यारह अंग चौदह पूर्वके पाठी होते हैं। ग्यारह अंग चौदह पूर्वका ज्ञान होना ही उनके पच्चीस गुण कहलाते हैं। वे पढ़ने योग्य समस्त मुनियोंको पढ़ाते हैं। पढ़ानेमें बतानेमें वे कभी कभी नहीं करते, कभी कुछ नहीं छिपते। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी पूजा भी पुष्पादिक आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

आगे साधु परमेष्ठीकी पूजा करनेकेलिये कहते हैं।

तीव्रतीव्रतपोभारधौरेयत्वमुपांश्रेतान् ।

साधून् दर्शनवोधस्थान् पुष्पांदेभिरुपास्महे ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो मुनिराज अत्यंत कठिन और घोर तपश्चरणोंको मुख्यतासे धारण करते हैं और सम्यग्दर्शन तथा सम्यज्ञानको शुद्ध रखते हैं। ऐसे साधुओं की पूजा जल चंदन आदि आठों द्रव्यों से करनी चाहिये।

भावार्थ—मुनिराज अद्वाइट्स मूलगुणोंको पालन करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणोंको पालन करते हैं। इनके सिवाय वे अनेक प्रकारके घोर तपश्चरण करते हैं, महिनोंका उपवास करते हैं, अनेक प्रकारके आसनोंसे ध्यान करते हैं और सदा सम्यग्दर्शन तथा सम्यज्ञान में ही लीन रहते हैं। ऐसे मुनिराजोंकी पूजा आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये।

यन्मूलमात्मतत्त्वस्य यन्मूलं ग्रिवसम्पदः ।

रत्नत्रयमनौपम्य पुष्पादिभिरुपास्महे ॥ २४० ॥

अर्थ—जो रत्नत्रय आत्मतत्त्वका मूल है, मोक्षरूपी संपदाके प्राप्त होनेका भी मूल है और जिसकी समस्त संसारमें कोई उपमा नहीं ऐसे रत्नत्रयकी पूजा भी जलादि आठों द्रव्योंसे करनी चाहिये।

भावार्थ—रत्नत्रय सबसे अधिक पूज्य हैं क्योंकि पंच परमेष्ठी भी

रत्नत्रयगुणके प्राट होनेसे ही पूजा होते हैं। संसारमें इसके समान और कोई गुण नहीं है। मोक्ष प्राप्ति का यह मूल कारण है और आत्मतत्त्व-की प्राप्तिका भी यही मूल कारण है। इसलिये ऐसे रत्नत्रय की पूजा जलादिक आठों द्रव्योंसे अवश्य करनी चाहिये।

इस प्रकार प्रबोधसार नामक ग्रंथमें अणुष्ट्रत गुणद्रव्य सामान्यिकका निरूपण करनेवाला यह दूसरा अध्याय
चावली (आगरा) निवासी लालाराम
जैन शास्त्री छुत हिंदी भाषामें
समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय।

आगे प्रोष्ठघोपवास ब्रतको कहते हैं।

(सिद्धान्तसम्मते पर्वे प्रोष्ठं तं विदुर्बुधाः ।

तत्र तत्रोपवासादिविधेको विधिवद्विधिः ॥ १ ॥

अर्थ— विद्वान् लोग सिद्धान्त शास्त्रोंमें कहे हुए समस्त पर्वोंको प्रोष्ठ कहते हैं। उन पर्वके दिनोंमें विधिपूर्वक उपवास आदि करना प्रोष्ठघोपवास कहलाता है।

भावार्थ— प्रत्येक महिनेमें दो अष्टमी दो चतुर्दशी चार तो ये पर्वके दिन हैं। इनके सिवाय षष्ठान्निका, दशलक्षण आदि और भी पर्वके दिन शास्त्रोंमें कहे हुए हैं। इन सब पर्वके दिनोंमें विधि पूर्वक प्रोष्ठघोपवास करना अथवा उपवास अनुपवास प्रोष्ठ आदि करना चाहिये। विधिपूर्वक सोलह पहर तक आहारादिका त्याग कर देना प्रोष्ठघोपवास है। जिसे अष्टमीको प्रोष्ठघोपवास करना है वह सप्तमीको एकाशन कर अष्टमीको उपवास करेगा और फिर नौमीको एकाशन करेगा तब वह

प्रोषधोपवास कहलावंग । यदि प्रोषधोपवास करनेकी शक्ति न हो तो उपवास ही करना चाहिये । उपवास बारह पहरका होता है । इसमें सप्तमीके सुर्य अस्त होनेसे लेकर नौर्मकि सुर्योदय तक उपवास करना चाहिये । जो शक्तिहीन पुरुष इस उपवासमें गर्भ जल ग्रहण कर लेते हैं उसे अनुपवास कहते हैं । एक बार भोजन पान करनेको प्रोषध कहते हैं । यदि अनुपवास भी न हो सके तो प्रोषध वा एकाशन करना चाहिये । पवित्र और पूज्य दिनोंको पर्व कहते हैं । इन दिनोंमें यथासाध्य पाप-कार्योंका त्याग अवश्य करना चाहिये ।

आगे पर्वके दिनोंमें करने योग्य कर्तव्य कहते हैं ।

सप्तर्णं नियमं दानं शीलब्रह्मप्रभावनाम् ।

ब्रतविद्यातपोवृत्तश्रुतादीन् तत्र वृहयेत् ॥ २ ॥

अर्थ—उन पर्वके दिनोंमें भगवान् अरहंत देवकी पूजा करनी चाहिये, यम नियम धारण करना चाहिये, दान देना चाहिये, गुणब्रत शिक्षाब्रत आदि शीलब्रतोंको धारण करना चाहिये, मोक्ष मार्गकी प्रभावना करनी चाहिये, पाचो अणुब्रतोंको धारण करना चाहिये, आत्म-विद्याका अभ्यास करना चाहिये, तपश्चरण धारण करना चाहिये, चारित्र धारण करना चाहिये और शास्त्रज्ञानको बढाना चाहिये ।

भावार्थ—पर्वके दिनोंमें समस्त पापोंका त्याग कर पूजा जप तप ध्यान आदि धार्मिक कार्य करते रहना चाहिये, धर्मशास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये और अपनी शक्तिके बनुसार धर्मोपदेश देना चाहिये अथवा सुनना चाहिये ।

आगे प्रोषधोपवासके दिन न करने योग्य कार्योंका त्याग करनेके-लिये कहते हैं ।

स्नानं नश्यं वपुभूषां रामामाल्यविलेपनम् ।

प्रोषधस्थो न सेवेत सर्वं सावधसंश्रयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवालोंको स्नान नहीं करना चाहिये, ह-

लास तंत्राखू आदि कुछ भी नहीं संघना चाहिये, शरीरको वस्त्र आभूषणोंसे सुसज्जित नहीं करना चाहिये, स्त्रीसेवनका त्याग कर देना चाहिये, माला नहीं पहननी चाहिये, शरीरपञ्च सुगचित उवटन वा लेप नहीं लगाना चाहिये तथा और भी जो जो पापकार्य हैं जिनके करनेसे कुछ भी पाप का आस्तब होता हो ऐसे समस्त बतायोंका त्याग करदेना चाहिये

भावार्थ—प्रोषधोपवास करनेवालोंको उस पर्वके दिन राग रंग बढ़ानेवाले आमोद प्रमोद और पापकार्य समस्त छोड़ देने चाहिये ।

आगे प्रोषधोपवासके दिन कथा करना चाहिये सो कहते हैं ।

स्थाने वने इमशाने वा लैप्पस्थानाद्रिष्टमिषु ।

धर्मध्यानाय संवासः प्रोषधस्थोपवासिनाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवालोंको उस दिन किसी वनमें इमशानमें अथवा किसी जिनालयमें वा पर्वत आदि अन्य किसी एकांत स्थानमें धर्मध्यान करनेकेलिये निवास करना। चाहिये ।

भावार्थ—प्रोषधोपवासके लिये किसी एकांत स्थानमें बैठकर धर्म ध्यान करना चाहिये । यदि शक्ति हो तो इमशानमें वा वनमें रहकर धर्मध्यान करना चाहिये । यदि इमशानमें वा वनमें रहनेकी शक्ति न हो तो किर किसी जिनालयमें वा चैत्यालयमें बैठकर धर्मध्यान करना चाहिये । उस दिन किसी धर्मशालामें रहकर भी धर्मध्यान कर सकता है । अथवा यदि घरमें कोई एकांत स्थान हो तो वहां भी रहकर धर्मध्यान कर सकता है । अभियाय यह है कि धर्मध्यानमें जहां किसी प्रकारका उपद्रव न हो सके ऐसे स्थानमें बैठकर धर्मध्यान करना चाहिये ।

आगे आरंभत्याके लिये कहुँते हैं ।

पुमः श्रितोपवासस्य नैवास्मभविधिर्मतः ।

साध्यसिद्धिर्विधर्लभो न तेहायासमाव्रतः ॥ ५ ॥

अर्थ—उपवास करनेवाले पुल्षोंको उस दिन किसी प्रकारका आरंभ नहीं करना चाहिये । क्योंकि साध्यकी सिद्धि विधिसे होती है; शरीरके परिश्रम करने सात्रसे कुछ लम्ब नहीं होता ।

भावार्थ—उपवास करना आरंभ करते हुए केवल शरीरको कष्ट पहुंचाना है। क्योंकि समस्त पापों का त्याग करने के लिये ही उपवास किया जाता है। उपवास करने का यहाँ मुख्य अर्थ है। यदि उपवास करके फिर भी पापोंका आरंभ किया तो फिर उसका उपवास करना व्यर्थ है केवल शरीर को कष्ट पहुंचाना है। इसलिये उपवासके दिन कभी किसी प्रकारका आरंभ नहीं करना चाहिये ॥

आगे उपवासके दिन आरंभ करना समस्त उपवासको नाश करनेवाला है ऐसा दिखलाते हैं ।

सर्वोपवाससंहारं प्रारंभो किद्धात्यलम् ।

महादोषो ब्रतस्थानां प्रारंभविधिवर्तिनाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उपवास के दिन आरंभ करनेसे समस्त उपवासों का नाश हो जाता है। आरंभ करने वाले व्रती लोगों को महा दोष लगता है।

भावार्थ—आरंभका त्याग करना ही उपवास है। यदि उपवास करके भी आरंभ किया तो फिर वह कभी उपवास कहला ही नहीं सकता। जो लोग व्रत धारण करते हैं उन व्रतोंमें उपवास आदि करते हैं और फिर आरंभ भी करते हैं उन्हे महा दोष लगता है। जिस प्रकार गृहस्थ, गृहस्थ संबंधी जो कार्य घरमें करता है उन कार्योंको वह जिनालयमें वा तीर्थ क्षेत्रों पर नहीं कर सकता। यदि वह गृहस्थ उन कार्यों को जिनालय वा तीर्थ क्षेत्रों पर करे तो उसे बज्र पाप लगता है। उसी प्रकार जो आरंभ पतिदिन किया जाता है वही आरंभ उपवासके दिन नहीं करना चाहिये। उपवास के दिन समस्त आरंभों का त्याग अवश्य करदेना चाहिये ।

आगे उपवासकी आवश्यकता कौर लाभ दिखलाते हैं ।

विशुद्धयेनान्तरात्मार्यं तपस्कोत्रविधिं विना ।

न वन्हेरन्यदस्तीह हेममालिन्यशुद्धये ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णको शुद्ध करने के लिये अग्निके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार इस आत्मका अंतरंग शुद्ध कर-

नेकेलिये घोर तपश्चरण करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ।

भावार्थ—यह आत्मा कर्मोंके संबंधसे मलिन हो रहा है । काम क्रोध मोह आदि विकार भी कर्मोंके ही संबंधसे होते हैं । तथा कर्मोंको नाश करनेवाला एक तपश्चरण इसी है । विना तपश्चरणके कर्म और किसीसे नष्ट नहीं हो सकते । और विना कर्मोंके नष्ट हुए आत्मा कभी शुद्ध नहीं हो सकता । जैसे जैसे कर्म नष्ट होते जाते हैं वैसे ही वैसे आत्मा शुद्ध होता जाता है । उपवास करना भी एक तपश्चरण का बाह्य भेद है । यों तो तपश्चरणका मुख्यतया पालन करना मुनियोंका कार्य है । परंतु उपवास नामका तपश्चरण ऐसा है जिसे ग्रहस्थ भी धारण कर सकते हैं । और उस तपश्चरणकी द्वारा कर्मोंकी निर्जरा कर आत्माको शुद्ध कर सकते हैं । इसलिये मोक्षज्ञान चाहनेवाले भव्य जीवोंको वर्षके दिनोंमें उपवास वा प्रोष्ठधोपवास अवश्य करना चाहिये ।

आगे इस प्रोष्ठधोपवास की झँसा दिखलाते हैं ।

महाधन्यः स धन्यानां महात्मायं महात्मनाम् ।

भवद्वयहितं सारं येन वृत्तं समाश्रितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यह प्रोष्ठधोपवास नामका तपश्चरण दोनों लोकोंमें हित करनेवाला है । और समस्त संसारमें सारभूत है । ऐसा यह प्रोष्ठधोपवास नामका तपश्चरण जिसने धारण करलिया वह धन्य पुरुषोंमें भी महाधन्य है और माहात्माओंमें भी महात्मा है ।

भावार्थ—संसारमें चारित्र ही अत्यंत कठिन है और चारित्र ही सबसे अधिक पूज्य है । जो चारित्र धारण करता है वह सबसे अधिक धन्य है । वही पुरुष कर्मोंको नाश कर महात्मा बन सकता है । इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार चारित्र अवश्य धारण करना चाहिये ।

आगे भोगोपभोग परिमाण ब्रतको कहते हैं ।

यमो निरवधिः सिद्धः समधिर्नियमो मतः ।

यथासामर्थ्यसंप्राप्त्या त्रिग्रुद्धया पालनं तयोः ॥ ९ ॥

अर्थ—विना किसी मर्यादाके जन्मभरके लिये त्याग करना यम है और कालकी मर्यादापूर्वक त्याग करना नियम है। भोगोपभोग परिमाण व्रतमें अपनी शक्तिके अनुसार मन सेवन कायको शुद्ध कर यम नियम दोनोंका पालन करना चाहिये ।

भावार्थ—मध्य मांस मधु पुण्य कंठ मूल आदि बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जिनमें बहुतसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती है और अनेत स्थावरोंकी हिंसा होती है। ऐसे पदार्थोंको यमरूपसे त्याग करना चाहिये। अर्थात् ऐसे पदार्थोंको जन्मभर के लिये त्याग करदेना चाहिये। तथा ग्राह्य और भक्ष्य पदार्थोंको नियमरूपसे त्याग करना चाहिये ।

आगे उसी नियमको दिखलाते हैं ।

शयनासनयानादेभृषावस्थार्दिष्योपिताम् ।

प्रमितिः प्रविधातव्या सर्वेषां धर्मवृद्धये ॥ १० ॥

अर्थ—धर्मकी वृद्धि करनेकेलिये शयन, आसन, सवारी, आभृण, वस्त्र, श्री आदि समस्त भोगोपभोग पदार्थोंका नियम करलेना चाहिये ।

भावार्थ—जो पदार्थ बार बार भोगनेमें आवं उनको उपभोग कहते हैं। पलंग विछोना कुरमी गदा घोड़ागाड़ी भोटर कडे कंठी धोती हुयद्वा श्री आदि सब पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। इन सब पदार्थोंको नियमित रूपसे सेवन करना चाहिये। मैं इन पदार्थोंको इतने दिनतक सेवन करूँगा, आगे छोड़ दूँगा। अथवा इन पदार्थोंको मैं इतने दिनके लिये छोड़ता हूँ। इस प्रकार संकल्प कर लेना नियम कहलाता है। ग्रहस्थोंको ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेके लिये नियम अवश्य कर लेना चाहिये ।

आगे भोगोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं ।

स्नानाशनताम्बूलमाल्यधूपविलेपनः ।

तथान्येषां पदार्थानामभिलगपः प्रमीयताम् ॥ ११ ॥

अर्थ—स्नान, भोजन, पान, अलमाल, धूप, उवर्ण आदि पदार्थ

भोग कहलाते हैं। इन सब पदार्थोंके सेवन करनेकी इच्छाको तथा और भी ऐसे ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेकी इच्छाको नियमित कर लेना चाहिये।

भावार्थ—जो पदार्थ एक बार काममें आवें—जिनका उपयोग दुआरा न किया जा सके ऐसे पदार्थोंको भोग कहते हैं। स्नान भोजन पान् आदि सब पदार्थ भोग हैं। इन सब पदार्थोंके सेवन करनेका नियम कर लेना चाहिये। मैं दिनमें एकबार भोजन करूँगा, एक बार पान खाऊंगा या आज न खाऊंगा, आज दो बार पानी पीऊंगा। मैं महीनेमें एक बार ही उबटन करूँगा, एक या दो बार माला पहनूँगा। अथवा मैं इन सब पदार्थोंको इतने दिनके लिये छोड़ता हूँ। इतने दिन तक इन पदार्थोंका सेवन नहीं करूँगा। इस प्रकार उन पदार्थोंके सेवन करने का नियम कर लेना चाहिये। जो पदार्थ सर्वथा अग्राह्य और त्याज्य हैं उनका तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। और जो पदार्थ ग्राह्य तथा भक्ष्य हैं उनका यम नियम रूपसे त्याग करना चाहिये। इसीको भोगेपिभोग परिमाण ब्रत कहते हैं।

आगे इस भोगोपभोगपरिमाण ब्रतकी प्रशंसा करते हैं।

स्यादित्थं नियता वृत्तिर्यन्ध सर्वेषु वस्तुषु ।

स सर्वासां श्रियामीशः सर्वविश्वेषु वर्तताम् ॥ १२ ॥

अर्थ— इस प्रकार जो पुरुष संसारके समस्त पदार्थोंमें अपनी वृत्तिको नियमित कर लेता है वह कोनों लोकोंमें समस्त लक्ष्मियोंका स्वामी होता है।

भावार्थ— इन पदार्थोंमें जितना जितना ममत्व बढ़ता जाता है, इनके सेवन करनेकी जितनी इच्छा प्रवृल होती है, उतना ही ये पदार्थ दूर भागते जाते हैं। तथा इन पदार्थोंका जितना त्याग किया जाता है, उतना ही ये पदार्थ दौड़कर समीप आ जाते हैं। अतएव जो पुरुष इन सब पदार्थोंमें अपनी इच्छाको रोक लेता है—सबको यम नियम रूपसे

त्याग कर देता है उसे इंद्र चक्रवर्ती आदि उत्तमोत्तम पद और उनकी उत्तमोत्तम संदार्शन अवश्य प्राप्त होती हैं तथा परंपरासे मोक्षलक्ष्मी भी प्राप्त होती है : इस लिये भोगोभोग परिमाण व्रत अवश्य धारण करना चाहिये । यह व्रत इंद्रियसंयमका मावन है । भोगोभोग परिमाण करनेसे इंद्रियां मन सब वशमें हो जाती हैं । तथा अनंत जीवोंकी रक्षा होनेसे प्राणिसंयम भी पल जाता है । इस प्रकार इस व्रतके पालन करनेसे संयमका पालन बहुत अच्छी तरहसे होता है ।

आगे दानका स्वरूप कहते हैं ।

यथाद्रव्यं यथादेशं यथापात्रं यथापथम् ।

यथाविधानसम्पत्त्या दानं ईर्य तदर्थिनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अपने द्रव्यके अनुसार, देशके अनुसार, पात्रके अनुसार, आगमके अनुसार और विधिपूर्वक दान देना चाहिये और वह दान उन्हींको देना चाहिये जिन्हें दान हेतुकी आवश्यकता है ।

भावार्थ—दान विधिपूर्वक ठेता चाहिये । दानकी विधिमें कुछ भी अंतर नहीं करना चाहिये । मुनियोंको नवधा भक्ति पूर्वक सब अन्तरायोंको छोड़कर दान देना विधि कहलाती है । तथा वड़ विधि भी आगमके अनुसार होनी चाहिये । आगमके विरुद्ध कोई भी क्रिया शुभ नहीं कही जा सकती । तथा वर्णन पात्रके अनुसार देना चाहिये । मुनियोंको ऐसा आहार देना चाहिये । जो उनके तप और ध्यानमें सहायक हो । यदि किसी मुनिको कोई रोग हो तो उनके लिये औषधि भी देनी चाहिये । आवश्यकता मालूम है । तो शास्त्र पीछी आदि धर्मको बढ़ाने वाले साधन देना चाहिये । मुनियोंको दान देनेके सिवाय और भी जहाँ जहाँ धर्मके कार्योंमें आवश्यकता प्रतीत हो वहाँ दान देना चाहिये । और वह अपने देशके अनुसार देना चाहिये । जिस देशमें जो अन्न काममें आता है वही अन्न उस देशमें पच सकता है । इसलिये ऐसा ही अन्न दानमें देना चाहिये । ऊपर लिखी वार्तोंके अनुकूल जैसा द्रव्य अपने यहाँ हो उमीमें देना चाहिए ।

आगे दानका लक्षण और उससे होनेवाला लाभ दिखलाते हैं ।

स्वात्मनः श्रेयसेन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।

यत्स्यात्स्वस्य परस्थापि । हितं तदानमिष्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—दान देनेसे अनेआत्माको पुण्यकी प्राप्ति होती है और दान लेनेवालोंको रत्नत्रयकी वृद्धि होती है। सो ठीक ही है; क्योंकि दान वही कहलाता है जिससे अगरा भी हित हो और दूसरों का भी हित हो।

भावार्थ—जिस दानके देनेमें न तो देने वालोंको पुण्य हो और न लेनेवालोंको आत्म धर्मकी वृद्धि हो वह दान कुदान कहलाता है। दान देनेका अभिप्राय ही आत्मधर्मकी वृद्धि करना है। तथा दानका लक्षण ही यह है कि जिससे दोनोंका हित हो। इसलिये जिस दानसे रत्नत्रयकी वृद्धि हो वही दान देना चाहिये ।

आगे दानकी विशेषता दिखलाते हैं ।

पात्रदातुविधिद्रव्यविशेषभूद्विशिष्यते ।

यथांबु तोषदैवर्वन्तं स्थाने । स्थाने विशिष्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बादलोंसे गिरा हुआ पानी स्थान स्थानके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है उसी प्रकार पात्र दाता विधि और द्रव्यके भेदसे दानमें भी विशेषता हो जाती है ।

भावार्थ—बादलोंमें पानी सब एकसा होता है परंतु वह जहाँ पड़ता है वहाँकी पृथक्कीके अनुसार ही हो जाता है। इसी प्रकार दान देनेमें जैसा पात्र होगा वैसा ही उसका फल मिलेगा। पात्रोंमें यदि सर्वोत्तम तीर्थकर आदि हों तो उस दान का फल सर्वोत्तम होगा। यदि कुद्धिधारी मुनि हों वा आचार्य उपाध्याय हों तो उसका फल उनके अनुसार होगा। जैसे लेनेवाले पात्र होंगे, दानका फल वैसा ही मिलेगा। इसी प्रकार जैसा देनेवाला होगा वैसा ही उसका फल मिलेगा। दान देनेवाला यदि शुभ परिणामों वाला और दाताके सब गुणोंसे सुशोभित हो तो उसको सर्वोत्तम फल मिलेगा। यदि गुणोंमें कमी होगी तो फलमें भी कमी

हो जायगी । विवि भी सर्वोक्तुष्ट होगी तो फल अच्छा प्राप्त होगा । यदि विधिमें कमी होगी तो फलमें भी कमी अवश्य हो जायगी । इसी प्रकार यहि द्रव्य भी रत्नत्रयको बढ़ानेवाला होगा तो उसका फल बहुत अच्छा होगा । यदि द्रव्य सुयोग्य नहीं होगा तो उसका फल भी बैसा ही होगा । इस लिये दाताको सदा अपने परिणाम अच्छे रखने चाहिये । विधिपूर्वक दान देना चाहिये और द्रव्य रत्नत्रयको बढ़ानेवाला उत्तम रखना चाहिये । इन तीनोंकी उत्तमता होनेपर यदि उत्तम पात्रका संयोग हो ज्ञायगा तो सर्वोक्तुष्ट फल अवश्य प्राप्त होगा । इस लिये दाताको उत्तम परिणामोंसे दान देना चाहिये । विधिपूर्वक देना चाहिये । उत्तम पात्रको देना चाहिये । और रत्नत्रयको बढ़ानेवाला द्रव्य देना चाहिये ।

आगे दातार और पात्रको दिखलाने हैं ।

बदान्यः सत्वसम्पन्नो दाता भीतः प्रशस्यते ।

रत्नत्रयधरो धीरः पात्रं निःमृहताशयः ॥ १६ ॥

अर्थ— दाता वही कहलाता है जो दान देनेकी शक्ति रखता हो, उदार हो और पात्रमें जिसका अत्यंत अनुराग हो । तथा पात्र वह कहलाता है जो रत्नत्रयको धारण करनेवाला हो, धीर वीर हो और जिसका हृदय निष्पृह हो ।

भावार्थ— यहांपर संक्षेपसे दाता और पात्र दोनोंके लक्षण बतलाये हैं । पात्रमें सबसे मुख्य गुण रत्नत्रयका होता है । क्योंकि उस रत्नत्रयकी वृद्धिके लिये ही दान किया जाता है । यदि रत्नत्रय न हो तो वह पात्र ही कहलाने योग्य नहीं है । रत्नत्रयके साथ साथ उस पात्रका हृदय इच्छारहित होना चाहिये । आहारमें जो मिल जाय, जैसा मिल जाय उसे इच्छा रहित होकर सभीले लेना चाहिये । इसके सिवाय उसे धीर होना चाहिये । यदि आहार न भी मिले तो व्याकुल नहीं होना चाहिये । दाता भी शक्तिशाली हो—दान देनेकी शक्ति मूलना हो और

पात्रमें अनुराग रखता हो। विना अनुरागके वह मत्ति आदर सत्कार विधि कुछ नहीं कर सकता। इसलिये पात्रमें अनुरागका होना दाताका प्रधान गुण समझना चाहिये।

आगे दानके भेद बतलाते हैं।

निर्भयाहारयोदानमौषधश्रुतयोरपि ।

सदा मनीषिभिर्देयं शुद्धर्थमप्रवर्तनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान यह चार प्रकारका दान है। यह चारों प्रकारका दान शुद्ध धर्मकी प्रवृत्ति करनेवाला है। इसलिये बुद्धिमार्णोंको यह चारों प्रकारका दान सदा देते रहना चाहिये।

भावार्थ—चारों प्रकारके दानका हेतु शुद्ध धर्मकी प्रवृत्ति बतलाया है। इसलिये जहाँ जहाँ शुद्ध धर्मकी प्रवृत्ति होती हो तभी दान कहला सकता है; अन्यथा नहीं।

आगे चारों दानोंका फल बोलते हैं।

सौरूप्यमभयात्प्राहुराहात्सर्वसुस्थिता ।

श्रुतात् श्रुतमतामीशो निर्व्याधित्वं तथौषधात् ॥ १८ ॥

अर्थ—अभयदान देनेसे सुखरूप प्राप्त होना है। आहारदान देनेसे सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं। शास्त्रदान देनेसे श्रुतकेवली होता है। और औषधदान देनेसे नीरोग शोषकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—जो जैसा दान दिता है उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है। औषधदान देकर जो अनेक लोगोंको नीरोग बनाता है वह स्वयं नीरोग रहता है। जो शास्त्रदान देकर अनेक लोगोंको ज्ञानी बनाता है वह स्वयं श्रुतकेवली होता है। जो आहारदान देकर सुख पहुँचाता है वह स्वयं अनेक भोगोपभोगोंसे पर्युर्ण होकर सुखी होता है। और जो अभयदान देकर निर्भय करता है वह अस्त्र रूपवान् होता है। इसलिये गृहस्थोंको चारों प्रकारका दान मरण देने रहना चाहिये।

[१०८]

आगे अभयदानको बतलाते हैं ।

सत्त्वानामभयं दद्यादानं परममुत्तमम् ।

तद्दीने हि बृथा सर्वे हेमदानादिविस्तराः ॥ १९ ॥

अर्थ——सब दानोंमें परम उत्तम वश अभयदान है । इसलिये सब जीवोंके लिये अभयदान अवश्य देना चाहिये । इस अभयदानके बिना सुवर्ण आदिका महादान देना भी सब अर्थ है ।

भावार्थ——यदि कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्यको करोड़ों रुपये दे डाले परंतु वह उसे मरनेसे न बचावे तो उसका वह करोड़ों रुपये का दान किस काम आवेगा । यदि देने वाला करोड़ों रुपये न देकर केवल उस मनुष्यकी रक्षा ही करले तो वह आगे जीवित रहकर धर्मसेवन कर सकता है और आत्म कल्याण कर सकता है । जीव मरनेसे बहुत ही डरते हैं । वे अपने जीवित रहनेके लिये सब कुछ खर्च कर सकते हैं । परंतु धन बचाकर मरना कोई नहीं चाहता । इसलिये सुवर्णदान वा अन्य सब दानों की अपेक्षा अभयदान देना सबसे उत्तम है । लोटे बडे समस्त जीवोंकी रक्षा करना सबको अभय देना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है । जीवोंको अभय दान देनेके लिये प्रत्येक गृहस्थको अपने सब काम यत्नाचारपूर्वक करना चाहिये । दुखी जीवोंका दुख दूर करना चाहिये और किसीको किसी तरहका भय नहीं देना चाहिये । अभयदान सबसे उत्तम दान है । यह सदा ध्यानमें रखना चाहिये ।

आगे अभयदान की उत्तमता और भी दिखलाते हैं ।

दानमन्यद्वेन्मा वा नगो यदाभयप्रदः ।

सर्वेषामेव दानानां यतस्तदानमुत्तमम् ॥ २० ॥

अर्थ——यदि यह मनुष्य अभय दान देनेमें लज्जा है तो उसके और दान हों वा नहीं, उसका वह अभयदान ही समस्त कायोंकी सिद्धि करनेवाला है । क्योंकि यह अभयदान सब दानोंमें उत्तम दान गिना जाता है ।

भावार्थ——यदि अन्य दान न हो तो इतनी हानि नहीं होती ।

परंतु यदि अभयदान न हो तो इस जीवकी बड़ी भारी हानि होती है । इसका कारण यह है कि अन्य त्रृप्ति पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं । यदि वे न होंगे तो पुण्यकी वृद्धि नहीं होगी । परंतु यदि अभयदान न होगा, जीवोंकी रक्षा न की जायगी तो उनकी हिंसा होनेके कारण पापका बंध होगा । अतएव पापोंसे बचनेके लिये अभयदान अवश्य देना चाहिये । यह दान सबसे उत्तम है ।

आगे अभयदानमें तप श्रुत वत सब आ जाते हैं ऐसा बतलाते हैं ।

श्रुतं सर्वं तपः सर्वं सर्वं दानं व्रतेः सह ।

सर्वं प्रसाधितं तेन यः स्यादभयदानवान् ॥ २१ ॥

अर्थ — जिसने अभयदान दे लिया उसने पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया, पूर्ण तपश्चाण कर लिया, पूर्ण दान दे लिया और पूर्ण व्रत पालन कर लिये ।

भावार्थ — अभयदान देनेमें सब आ जाता है । इस लिये गृहस्थोंको अभयदान अवश्य देना चाहिये ।

आगे आहारदान देनेके लिये निषिद्ध भोजन बतलाते हैं ।

विरुद्धं नीरसं विद्धमपाश्म्यं व्याधिवर्द्धनम् ।

मुनिभ्यो दीयते नान्नं प्रत्यश्रद्धापर्यन्तरः ॥ २२ ॥

अर्थ — जो अन्न देखनेमें पुंदर न हो, जो नीरस हो, जो बुना हुआ हो, जो रोगको बढ़ानेवाला हो और जो ऐसा अन्न हो कि प्रकृतिके विरुद्ध पड़े, ऐसा अन्न, शोके और श्रद्धा रखनेवाले गृहस्थोंको मुनियोंके लिये कभी नहीं देना चाहिये ।

भावार्थ — मुनियोंके लिये निषिद्ध भोजन कभी नहीं देना चाहिये ।

आगे और भी निषिद्ध भोजन बतलाते हैं ।

फेलनैवेद्यभृत्याहं विश्रिंस्पर्शदृपितम् ।

दूरस्थानात्समानीतं मुर्निभ्योन्नं न दीयते ॥ २३ ॥

अर्थ—जो भोजन उच्छिष्ट वा छोड़ा हुआ वा झूठा हो, जो नौंकर चाकरोंके योग्य हो, जो विधीं लोगोंके स्पर्श करनेसे दृष्टि हो गया हो और जो किसी दूर स्थानमें लाया गया हो ऐसा भोजन मुनियोंके लिये कभी नहीं देना चाहिये ।

भावार्थ—झूठा और सेवकोंबेल योग्य भोजन तो त्याज्य है ही परंतु अन्य धर्मियोंके द्वारा स्पर्श किया हुआ भोजन और दूसरे लाया हुआ भोजन भी मुनियोंको नहीं देना चाहिये ।

इसी प्रकार—

सावद्यं पुण्यितप्रायं तथा सिद्धांतदृष्टिम् ।

यतिभ्योन्नं न दीयेत मन्त्रार्घोत्तमुपायनम् ॥ २४ ॥

दधिसर्पिःपयःप्रायमपि पर्युषित मतम् ।

स्माद्यैस्न्यथाभृतमन्यद्वान्यं रिनिदितम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अन्न पापक्रियासे उत्पन्न हुआ हो, जिसके बनानेमें अधिक पाप करना पड़ा हो, जो फूल गाया हो, जिसपर सफेद सफेद जाली-सी पट गई हो, जो शास्त्रोंमें दृष्टि कालाया गया हो, जो मंत्रपूर्वक चढ़ाया गया हो, जो भेटमें आया हो, जो दूध दही धी अपनी मर्यादासे अधिक देर का रखा हो, जो चलितःस होगया हो तथा और भी जो निंदनीय धान्य हो—ऐसा अन्न मुनियोंके लिये कभी नहीं देना चाहिये ।

भावार्थ—मुनियोंको सर्वथा शुद्ध भोजन देना चाहिये । जो भोजन गृहस्थोंके लिये भी निषिद्ध है ऐसा भोजन कभी नहीं देना चाहिये ।

आगे मुनियोंकी सेवा सुश्रूषा करनेके लिये कहते हैं ।

वालवृद्धतपोदान्तव्याधितार्जितपस्त्रिनाम् ।

सुश्रूषा मा विधातव्या या रत्नत्रयवृद्धये ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मुनि बालक हैं, अल्प आयुवाले हैं अथवा वृद्ध हैं, जो घोर तपश्चरणसे उत्पन्न हुए भारी झँशको सहन करनेवाले हैं और जो

मुनि रोगी हैं—ऐसे मुनियोंकी ऐसी सेवा सुश्रूषा करनी चाहिये जो उनके रत्नत्रयको बढ़ानेवाली हो ।

भावार्थ— रोगी, दुःखी, क्लेशित मुनियोंकी सेवा सुश्रूषा अवश्य करनी चाहिये और वह सेवा सुश्रूषा ऐसी करनी चाहिये जो रत्नत्रयको बढ़ानेवाली हो । जो सेवा वा इहल चाकरी रत्नत्रयमें दोष लगानेवाली हो ऐसी सेवा सुश्रूषा कभी नहीं करनी चाहिये ।

आगे कैसे गृहस्थोंको मुनिर्णीके लिये दान देना चाहिये सो कहते हैं ।

सर्वारम्भविहीनेन त्रिशुद्धचा शोधितात्मना ।

थ्रद्वालुना विनीतेन दानं देयं तपस्विनाम् ॥ २७ ॥

अर्थ— जो गृहस्थ सब तरहके आरंभोंसे रहित हैं, मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक जिन्होंने अपना आत्मा शुद्ध कर लिया है, मुनियोंपर जिनकी पूर्ण श्रद्धा है और जो नम्र हैं—ऐसे गृहस्थोंको तपस्वि मुनियोंके लिये दान देना चाहिये ।

भावार्थ— मुनियोंके लिये दान उन्हीं गृहस्थोंको देना चाहिये जो नम्र हों, जिनमें मुनियोंकी मौक्ते हो, जो श्रद्धा स्वते हों, जिनका मन वचन काय और आत्मा अत्यंत शुद्ध हो और जो सब तरहके आरंभोंसे रहित हों, पापारंभ न करते हों । ऐसे गृहस्थ ही दान देने योग्य हैं ।

आगे मुनिराज किन किनवें घर आहार नहीं लेते सो बतलाते हैं ।

मिथ्यादृशां सलोभानां द्रविनीतमनस्विनाम् ।

वेश्यादीनां तथा स्थाने नैवाशनन्ति तपोधनाः ॥ २८ ॥

अर्थ— तपस्वी मुनिराज, मिथ्यादृष्टि लोभी अविनयी अभिमानी और वेश्या आदिके स्थानपर आहशर कभी नहीं लेते हैं ।

भावार्थ— ये लोग विधिपूर्वक शुद्ध आहार कभी नहीं दे सकते । इसलिये ऐसे स्थानोंपर मुनिराज कभी आहार नहीं लेते हैं । मुनियोंके आहारके लिये ये निषिद्ध स्थान हैं ।

आगे दूसरे के द्वारा दान लिङ्गनेका निषेध करते हैं ।

धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ श्रुतोद्वमे ।

दाने स्वदेहपोषादौ प्रतिहस्तं न संदिशेत् ॥ २९ ॥

अर्थ——धर्मकार्योंमें, स्वामीकी सेवा करनेमें, पुत्र उत्पन्न करनेमें, शास्त्रोंका अभ्यास करनेमें, दान देनेमें और अपने शरीरको पुष्ट बनानेमें दूसरोंके लिये आज्ञा नहीं देनी चाहिए ।)

भावार्थ—धार्मिक कार्य सब स्वयं अपने हाथसे करने चाहिये दूसरोंसे नहीं करने चाहिये । पुत्र उत्पन्न करनेका प्रयत्न स्वयं करना चाहिये । शास्त्रोंका अभ्यास स्वयं करना चाहिये । दान भी स्वयं अपने हाथसे देना और अपना शरीर अपने आप पुष्ट करना चाहिये । ये सब काम न तो दूसरोंसे होते हैं और न कभी बताना चाहिये । यदि दूसरोंसे कराये जायगे तो उनका फल भी उनको ही मिलेगा । केवल आज्ञा दे देने मात्रसे उनका फल अपनेहो कभी नहीं मिल सकता । आगे इसी बातको दिखलाते हैं ।

स्ववित्तं प्रतिहस्तेन दानादौः प्रो हि दापयेत् ॥

निःसन्देहमवाप्नोति प्रतिहस्तेन तत्फलम् ॥ ३० ॥

अर्थ— जो गृहस्थ दान आदि कार्योंमें अपने धनको दूसरोंके हाथसे दिलाता है वह विना किसी संदेहके दूसरोंके ही हाथसे उसका फल प्राप्त करता है ।

भावार्थ— दान पूजा आदि कार्यां दूसरोंके हाथसे नहीं कराना चाहिये । जो गृहस्थ दान पूजा आदि धार्मिक कार्य दूसरोंके हाथसे करते हैं उनका फल भी दूसरोंको ही मिला करता है । इसलिये दान पूजा आदि कार्य दूसरोंके हाथसे नहीं कराना चाहिये, अपने आप करना चाहिये ।

आगे अपने परिणाम शुद्ध रखनेके लिये और धर्म कार्योंमें लगाने के लिये कहते हैं ।

पुष्पादि स्तवनादिवां नैव धर्मस्य साधनम् ॥

भावो हि धर्महेतुः स्यात्तदत्र प्रयतो भवेत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—पुण्य जल चंदन अक्षत आदि अष्टदश्य रूप पूजाकी सामग्री अथवा स्तुति जप आदि वाह्य सामग्री धर्मके साधन नहीं हैं किंतु आत्माके परिणाम ही धर्मके साधन हैं। इसलिये अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेकेलिये पूजा स्तुति आदिमें लगानेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—यदि पूजा करनेको सामग्री बहुत ही सुंदर हो, चैत्य चैत्यालय आदि बहुत ही मनोहर और हृदयमाही हों परंतु पूजा करते हुए भी अपने भाव—अपने परिणाम पूजामें न लग रहे हों तो उस पूजा से कोई धर्म साधन नहीं हो सकता है। उस पूजासे धर्मकी वृद्धि कभी नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्तोत्र आदिका पाठ करने पर भी परिणाम न लग रहे हों तो उससे भी धर्मकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये धर्म कायोंमें अपने परिणामोंके लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि परिणाम शुद्ध होंगे तो पुण्य ऊत्र आदि वाह्य सामग्रीके बिना भी धर्मकी वृद्धि हो जायगी, अनंत पुण्यकी प्राप्ति हो जायगी। अतएव परिणामोंका शुद्ध रखना अत्यावश्यक है।

आगे मनकी शुद्धताका फल देखलाते हैं।

(भावैः शुद्धं मनः साधु धर्मानन्त्याय सम्मतम् ।

परां शुद्धिमवामोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पारेके अंसर्गसे लोहा अत्यंत शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार परिणामोंसे शुद्ध हुए सरल मनसे अनंत धर्मकी प्राप्ति होती है।)

भावार्थ—लोहा अत्यंत निम्न श्रणीका पदार्थ है। परंतु वही लोहा पारेके संसर्गसे अत्यंत शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जो मन शुद्ध परिणामोंके द्वारा अत्यंत शुद्ध है और जिसमें छल कपट कुछ नहीं है, जो अत्यंत सरल है ऐसे मनसे अनंत धर्मकी प्राप्ति होती है, अनंत पुण्यकी प्राप्ति होती है। अतएव धर्म साधन करनेकेलिये सबसे पहले मनको शुद्ध कर लेना चाहिये।

आगे जिस मनमें तप दान आदिकी भावना नहीं होती उससे कोई लाभ नहीं होता ऐसा दिखलाते हैं ।

तपोदानादिना हीनं मनः सदपि देहिनाम् ।

तत्फलप्राप्तये न स्यात् शिलोपा ब्रीहयो यथा ॥ ३३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पाषाणकी शिलापर धान्य बोनेसे कोई फल नहीं होता उसी प्रकार जिन जीवोंके मनमें तप दान पूजा स्तोत्र आदि की भावना नहीं होती वह मन चाहे कितना अच्छा क्यों न हो उससे किसी भी अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती ।

भावार्थ— पुण्यकी प्राप्ति मनकी शुभ भावनाओंसे ही होती है । तथा मनकी शुभ भावनाओंसे तप दान आदि कार्योंका होना मनके शुभ होनेकी पहचान है । जिसके मनमें शुभ भावना नहीं है उससे पूजा दान आदि कार्य कभी नहीं हो सकता । अतएव पुण्य प्राप्तिकेलिये मनको शुद्ध रखना चाहिये और दान पूजा आदि कार्य सदा करते रहना चाहिये जिससे मन परंपराकेलिये शुद्ध बना रहे ।

आगे मुनियोंकी वंदना करनेकोलिये कहते हैं ।

(वंद्यं यथार्हतां रूपं शिलालेपादिनिर्मितम् ।

तथा पूर्विष्ठपस्था वंद्याः प्रतिसंयताः ॥ ३४ ॥

अर्थ— जिस प्रकार पाषाणकी शिलापर उकेरि हुई अथवा लेपद्वारा बनाई हुई अथवा और किसी तरह बनाई हुई भगवान् अरहंत देवकी प्रतिमा वंदनीय है उसी प्रकार पहले समयके मुनियोंके रूपमें विराजमान इस वर्तमान समयके मुनि भी वंदनीय हैं ।

भावार्थ— जिस प्रकार अरहंत देवकी प्रतिमा अरहंत देवके ही समान मानी जाती है उसी प्रकार वर्तमानके मुनि पहले समयके मुनियों की प्रतिमाके समान मानने चाहिये । जिस प्रकार अरहंत देवकी प्रतिमा की पूजा वंदना की जाती है उसी प्रकार इन मुनियोंकी पूजा वंदना भी करनी चाहिये ।

आगे पात्रोंके भेद बतलाते हैं ।

तदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं यतौ ।

देशब्रती भवेन्मध्यं हीनमन्यः सुदर्शनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिस मुनिराजमें सम्यादर्शन सम्यज्ञान और सम्यक् चात्रि ये तीनों रत्न विद्यमान हों वे उत्तम प्रात कहे जाते हैं । देशब्रती श्रावक मध्यम पात्र गिना जाता है और अत्तम सम्यग्वष्टी जीव जघन्य पात्र गिना जाता है ।

आगे अपात्रको दिखलाते हैं ।

नास्ति रत्नत्रयं यत्र तदपात्रं सदाधमम् ।

तत्रोपं निष्फलं सर्वमूषरायां यथा भुवि ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो रत्नत्रयको धारण कर्त्रेवाला न हो वह नीच अपात्र गिना जाता है । जिस प्रकार ऊसर मूमिमें बोना व्यर्थ है उसी प्रकार अपात्रको दिया हुवा दान भी व्यर्थ ही है ।

भावार्थ—अपात्रको दान देनेसे कोई लाभ नहीं होता । क्योंकि वहांपर रत्नत्रयकी वृद्धि नहीं होती । इसीलिये अपात्रको दिया हुआ दान भी दान नहीं कहलाता । अतएव अपात्रको पात्र समझकर कभी नहीं देना चाहिये ।

आगे पात्रको ही दान देनेके लिये कहते हैं ।

(पात्रे दत्तं भवेदत्तं धर्माय इन्नमुत्तमम् ।

सिग्रायां वा यथा स्वातौ स्तोयं रत्नत्वहेतवे ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार स्वाति नक्षत्रमें सीपमें पड़ा हुआ पानी रत्न बन जाता है उसी प्रकार पात्रको दिया हुआ उत्तम धन धर्मके लिये दिया हुआ समझा जाता है ।)

भावार्थ—पात्रको दान देनेसे ही धर्मकी वृद्धि होती है । इस लिये दान सदा पात्रको ही देना चाहिये ।

आगे मिथ्याहृषियोंके लिये दान देनेका निषेध करते हैं ।

मिथ्यात्वाबद्वूलेषु तपोमात्रावभासिषु ।

दोषायैव भवेदानं पयःपानामेवाहिषु ॥ ३८ ॥

अर्थ——जो मिथ्यात्वकी जल्से बंधे हुए हैं और जो ऊपरसे तपसा दिखाई देनेवाला झूठा तप का रहे हैं ऐसे कुण्ठोंको दान देना भी दोष ही है। जिस प्रकार सर्पको दूध पिलानेसे विषकी वृद्धि होती है उसी प्रकार मिथ्याहृष्टियोंको दान देनेसे मिथ्यात्वकी ही वृद्धि होती है।

भावार्थ—कुण्ठोंको दान देनेसे फल तो मिलता है परन्तु अच्छा नहीं मिलता, दुःख देनेवाला ही मिलता है। इसलिये कुण्ठोंको भी दान नहीं देना चाहिये। मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्रको धारण करनेवाले मिथ्याहृष्टी लोग कुण्ठोंको कहलाते हैं। इनको दान देनेसे मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है। इसलिये इनको दान कभी नहीं देना चाहिये।

आगे करुणादान देनेकेलिये कहते हैं।

दीनदुःस्थितमंदेषु दयादार्थं प्रदीप्ताम् ।

प्रसिद्धिऽयवहाराय तदानन्तं निषिध्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो जीव अत्यंत दीन है; अत्यंत दुःखी हैं और अत्यंत भाग्यहीन हैं उनकेलिये करुणादान देना जाहिये। क्योंकि संसारमें अपनी प्रसिद्धि फैलानेकेलिये ऐसे दान देनेसे निषेध नहीं है।

भावार्थ—दीन और दुःखी जीवोंपर करुणा अवश्य करनी चाहिये उनका दुःख अवश्य दूर करना चाहिये। दुःख दूर करनेकेलिये दुःखी जीवोंको दान देनेका निषेध नहीं है। ऐसा दान देनेसे संसारमें यश फैलता है, कीर्ति बढ़ती है और जीव सुखी होता है।

आगे मिथ्याहृष्टियोंकी संगतिज्ञा निषेध करते हैं।

महामिथ्यात्वसञ्चैर्महामासमदोदृतैः ।

सहावासं सहालापं सहसेषं विदूरयेत् ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने महा मिथ्यात्वमें चूर हैं तथा जो महा अभिमान और मदसे उद्भव हो रहे हैं ऐसे लोगोंके साथ बात चीत नहीं

करनी चाहिये, ऐसे लोगोंके साथ रहना नहीं चाहिये और न ऐसे लोगोंके साथ मिलकर किसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये ।

भावार्थ—महामिथ्यात्वी और महाअभिभानी लोगोंके साथ मिलकर रहना, उनके साथ बात चीत करना और कामकाज करना भी सम्यदर्शन को मलिन करना है । इसलिये ऐसे लोगोंसे अलग रहना ही अच्छा है ।

आगे मिथ्यादृष्टियोंकी संगति दुखदायक है ऐसा दिखलाते हैं ।

तत्त्वात्पथान्वानां मिथ्यामतप्रवर्तिनाम् ।

युद्धायैव भवेद्वारात् सहावासे विशेषतः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य तत्त्वोंकी ज्ञानकारीके मार्गसे अंधे हैं और मिथ्यामतकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं ऐसे लोगोंके साथ बात चीत करना भी युद्धका कारण है, लड़ाई झगड़ेका बतरण है । फिर भला उनके साथ रहना तो विशेषकर लड़ाई झगड़ेका कारण होता ही है ।

भावार्थ— तत्त्वोंके जाननेका उपाय स्याद्वाद वा सप्तमंगी, अथवा प्रमाण नय है । इनके जाने बिना तत्त्वोंका स्वरूप कभी समझमें नहीं आसकता । जो लोग इनका स्वरूप जाने बिना मिथ्या मतकी प्रवृत्ति करते हैं उनको समझाना भी कठिन है । बिना स्याद्वादको समझे वे तत्त्वों के स्वरूपको समझ नहीं सकते । इसलिये वे लड़ पड़ते हैं । यदि ऐसे लोगोंके साथ सदा रहना पड़े तो उनको लड़ाई झगड़ेके कारण भी सदा बने रहें । इसलिये ऐसे मिथ्यादृष्टियोंसे ही अलग रहना अच्छा है ।

आगे सम्यदर्शनके मलिन होनेके कारण बतलाते हैं ।

भयलोभापरोधायैर्मिथ्यादर्शनसेवया ।

नियतं दर्शनं म्लानं भवतीति न संशयः ॥ ४२ ॥

अर्थ— किसीके भयसे, किसी लोभसे अथवा किसीकी रोक टोक वा बंधनसे, पब्ल आज्ञासे वा और भी किसी कारणसे मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा करनेसे सम्यदर्शन अवश्य ही मलिन हो जाता है इसमें किसी प्रकारका मंदेह नहीं है ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा किसी भयसे भी नहीं करनी चाहिये, किसी लोभसे भी नहीं करनी चाहिये, किसी की प्रबल आज्ञासे वा किसी के बंधनसे भी मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उनकी सेवा करनेसे सम्यग्दर्शनमें अवश्य दोष लगता है। अतएव सम्यग्दर्शनको निर्दोष निर्मल बनाये धनकेलिये ऐसे लोगोंकी सेवा करनेका त्याग कर देना चाहिये।

आगे धनकेलिये मिथ्यात्मी राजावते सेवा करना भी नहीं चाहिये ऐसा दिखलाते हैं।

बुद्धिपौरुषसाध्यासु दैवायत्तासु भूतिषु ।

माधवो नैव सेवन्ते मिथ्यात्ममुदितं नृपम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—संसारमें धन वान्य ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति बुद्धिसे होती है, अपने पौरुषसे होती है अथवा भाग्यसे होती है। इसीलिये सम्यग्दृष्टी सज्जन पुरुष मिथ्यात्मसे प्रसन्न होनेवाले ॥ जाकी सेवा कभी नहीं करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिसे धन कमाया जाता है, परिश्रमसे धन कमाया जाता है और शुभ कर्मोंके उदयसे धनकी प्राप्ति होती है। जब धन कमाने के उपाय अपने ही हाथमें हैं तब फिर मिथ्यादृष्टी राजाओं की सेवा क्यों करनी चाहिये? मिथ्यादृष्टी राजाओं की सेवा करनेसे मिथ्यात्मकी बुद्धि होती है और अपने सम्यग्दर्शनमें दोष लगता है। इसलिये ऐसी सेवा-का त्याग कर देना भी आवश्यक है।

आगे सम्यग्दृष्टीका आतिथ्य करनेके लिये कहते हैं।

देशव्रती यतिवापि यदि दर्शनमाश्रितः ।

यथासमयसंप्राप्तो माननीयः सुदर्शनैः ॥ ४४ ॥

अर्थ-- चाहे वह देशव्रती गृहस्थ हो और चाहे गृहत्यागी मुनि हो, यदि वह सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और वह अपने भोजनके समयपर आजाय तो ऐसे पुरुषका आदर सत्कार सम्यग्दृष्टियोंको अवश्य करना चाहिये।

आगे गुणी पुरुषोंके आदर सत्कार करनेके लिये कहते हैं ।

निमित्तमन्त्रयन्त्रादिवेदो वैद्योथ दर्शनी ।

माननीयो महादानैर्मिथ्यात्वादर्शनं वरम् ॥ ४५ ॥

अर्थ— जो सम्यग्वृष्टी निमित्तशास्त्रको जाननेवाला है, मंत्र वा तंत्रोंका जाननेवाला है वा अच्छा वैद्य है तो उसकेलिये भी महादान देकर उसका आदर सत्कार करना चाहिये । क्योंकि मिथ्यात्वीसे तो सम्यग्वृष्टी अच्छे ही हैं—श्रेष्ठ ही हैं ।

भावार्थ— दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि धर्मकार्योंमें ज्यो-तिष शास्त्र एवं निमित्तशास्त्र तथा मंत्र तंत्र आदि सब शास्त्रोंके जानकार की आवश्यकता होती है । शरीरको नीरोग और स्वस्थ रखने के लिये वैद्यकी भी आवश्यकता होती है । यदि ये सब लोग सम्य-ग्वृष्टी हों तो धन देकर इनका आदर सत्कार अवश्य करना चाहिये । क्योंकि यदि सम्यग्वृष्टी ज्योतिषी वैद्य आदि न मिलेगा तो फिर अपना काम करानेके लिये मिथ्याग्वृष्टीकी पास जाना पड़ेगा और धन भी देना पड़ेगा । तथा सम्यग्वृष्टी जितने अच्छे भावोंसे यात्रा प्रतिष्ठा आदिका मुहूर्त निकाल सकता है, जिसकी अच्छे भावोंसे चिकित्सा (इलाज) कर सकता है उतने अच्छे भावोंसे मिथ्याग्वृष्टी कभी नहीं कर सकता । इसलिये ऐसी ऐसी विद्याओंके जानकार सम्यग्वृष्टियोंका आदर सत्कार अवश्य करना चाहिये ।

आगे सम्यग्ज्ञानकी महिमा दिखलाते हैं ।

मान्यो बोधस्तपोहीनोऽबोधहीनं तपोर्हितम् ।

द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो व्रतवेषभृत ॥ ४६ ॥

अर्थ— सम्यग्ज्ञान तपर्हित होनेपर भी मान्य है, और विना सम्यग्ज्ञानके तप भी पूज्य है । तथा जिस मनुष्यमें सम्यग्ज्ञान और तप दोनों हों वह देव माना जाता है । और जो सम्यग्ज्ञान तथा तप दोनोंसे रहित है वह केवल व्रतीका भेष धारण करनेवाला पाखंडी है ।

भावार्थ—सम्यज्ञान सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होता है—विना सम्यग्दर्शनके सम्यज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इसलिये सम्यज्ञान के कहनेसे सम्यग्दर्शन आ ही जाता है। दूसरी बात यह है कि सम्यज्ञान स्वपर भेद विज्ञान स्वरूप आत्मज्ञानका नाम है। यदि ऐसा आत्मज्ञान विद्यमान हो किन्तु तप न भी हो तो भी वह तप कालान्तरमें अवश्य हो जाया है। सम्यज्ञान आत्माका सब हित करा लेता है। इसीलिये सम्यज्ञान मान्य वा पूज्य है। एवं तप भी अकेला ऐसा है कि उसके संबंधसे कालान्तरमें केवलज्ञान सरीखे ज्ञान भी प्रगट होते हैं और तपसे पुण्डर्बंध तो अकेलेसे भी होता ही है। जिस मनुष्यमें सम्यज्ञान और तप दोनों होते हैं वह साक्षात् परमेष्ठी कहा जाता है। तथा दोनोंसे रहित व्यक्ति पाखंडी और भेषधारी गिना जाता है।

आगे मिलनेपर किसके पति कैसा अवहार करना चाहिये सो कहते हैं।

यतिरूपे नमोस्तु स्यात्सुवृत्ते जिनयो महान् ॥

परस्परं सदा भव्यैर्बन्धुभावो वैधीयताम् । ४७ ॥

अर्थ—मुनियोंके लिये नमस्कार करना चाहिये, त्यागी वा चारित्र को धारण करनेवालेके लिये (ब्रतियोंके लिये) अत्यंत विनय करना चाहिये। तथा भव्य जीवोंको परस्पर एक दूसरेके साथ भाई भाईके समान रहना चाहिये।

आगे दानकी प्रशंसा करते हैं।

(धान्यमात्रप्रदानेन मान्या मुद्राभृतो नराः ।

ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही। दानेन शुध्यति ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मुनियोंकी मुद्राको धारण करनेवाले हैं उन्हें आहारदान देकर उनका आदरसत्कार अवश्य करना चाहिये। वे चाहे सच्चे तपस्वी हों अथवा केवल वेशधारी हो परंतु गृहात्म दान देनेसे शुद्ध अवश्य हो जाना है।)

भावार्थ—आहारदान देनेके लिये मुनियोंकी परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है । वे चाहे सम्यगृष्टी ढौं, चाहे मिथ्यावृष्टी हों यदि वे जिनमुद्राको धारण किये हुए हैं और बाजा सब क्रियाओंको पालन करते हैं तो उन्हें बिना किसी विवारके अवश्य आहारदान दे देना चाहिये । क्योंकि गृहस्थकी शुद्धि दानसे ही है । भोजनादिकके आरंभसे जो पाप होता है वह सब दान देनेसे नष्ट हो जाता है । इसलिये निर्ग्रथ मुनि चाहे द्रव्य लिंगी ही क्यों न हों उन्हें आहारदान अवश्य देना चाहिये ।

आगे साधर्मियोंको भी दारु देनेका विधान करते हैं ।

धन्यैर्लब्धं धनं दैवादामव्यं समयाश्रितं ।

सहस्रेषि न लभ्येत पात्रं रत्नत्रयान्वितम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—बड़े पुण्यवान् पुरुषोंको शुभ कर्मोंके उदयसे धन प्राप्त होता है । अतएव जैन धर्मको धारण करनेवालोंके लिये वह अवश्य दे डालना चाहिये । क्योंकि रत्नत्रयमें सुशोभित होनेवाला पात्र तो हजारोंमें भी नहीं मिलता ।

भावार्थ—दान देनेकेलिये उत्तम पात्रका संयोग मिलना अत्यंत कठिन है । अतएव मध्यम पात्रोंके लिये भी दान देना चाहिये और जघन्य पात्रोंकेलिये भी देना चाहिये । मध्यम वा जघन्य पात्रोंमेंसे जिसको जिसकी आवश्यकता हो उसको वही पदार्थ देकर अपने धनका सदुपयोग कर लेना चाहिये । क्योंकि धन शुभ कर्मोंके उदयसे प्राप्त होता है । जब तक शुभ कर्मोंका उदय है तब तक वह धन देनेपर भी उतना ही बना रहेगा । तथा अशुभ कर्मोंका उदय होनेपर न देनेपर भी नष्ट हो जायगा । इसलिये दान देकर धनका सदुपयोग अवश्य कर लेना चाहिये । गृहस्थकी शोभा और कीर्ति सब दानसे ही होती है ।

आगे मध्यम दानका स्वरूप कहते हैं ।

यदात्मसंस्तवप्रायं समानमनसाहितम् ।

परप्रत्ययसम्भूतं तदानं मध्यमं मतम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस दानके देनेमें अपनी प्रशंसा की जाय, अभिमान भरे हुए मनसे दिया जाय अथवा दूसरोंके द्वारा दिलाया जाय वह हित करने वाला दान भी मध्यमदान कहलाता है ।

भावार्थ—अपनी प्रशंसा करते हुए दान कभी नहीं देना न अभिमानसे देना चाहिये । क्षणभरके लिये अपना ऐश्वर्य दिखलानेवाला दान भी मध्यम वा राजस दान है । अपना धन दूसरोंके हाथसे भी नहीं दिलाना चाहिये । जो देना हो उसे स्वयं देना चाहिये ।

आगे जघन्य वा तामस दानको बतलाते हैं ।

(**पात्रापात्रसमावस्थमसन्मानसम्मतम् ।**

भृत्यादिहस्तसंदत्तं तदानं तामसं विदुः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस दानमें पात्र अपात्र स्वा समान हृषिसे देखे जाय, जो विना सत्कार किये दिया जाय, विना मनके दिया जाय और नौकर चाकरोंके हाथसे दिलाया जाय वह दान तामस वा जघन्य दान गिना जाता है ।

भावार्थ—जो दान विना भक्तिके, विना श्रद्धाके, विना आदर-सत्कारके, विना मनके, नौकर चाकरोंके हाथसे दिलाया जाता है वह तामस दान कहलाता है ।

आगे सात्त्विक दानको कहते हैं ।

(**महादरः स्वयं यत्र पात्रापात्रविभावना ।**

महाश्रद्धा महान् यत्नस्तदानं सत्त्वसम्भवम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिस दानमें अपने आप बड़ा भारी आदर सत्कार किया जाय जिसमें पात्र अपात्रका पूर्ण विचार किया जाय जो दान बड़ी भारी श्रद्धा पूर्वक दिया जाय और जिसके देनेके लिये बड़ा भारी प्रयत्न किया जाय वह दान सात्त्विक दान कहलाता है ।

भावार्थ—जो दान श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक, विधिपूर्वक, आदर-सत्कारपूर्वक विचारपूर्वक और प्रयत्नपूर्वक दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहलाता है ।

आगे इन दानोंकी हीनाधिकता दिखलाते हैं ।

सर्वेषामेव दानानामुक्तम् सत्त्वसम्भवम् ।

विनिन्द्यं तामसं दानमपां मध्यमं विदुः ॥ ५३ ॥

अर्थ—इन सब दानोंमें सात्त्विक दान उत्तम दान कहलाता है, तामस दान निंद्य कहलाता है और तीसरा राजस दान मध्यम कहलाता है ।

भावार्थ—ग्रहस्थोंको सात्त्विक दान देना चाहिये और तामसदान का सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ।

आगे दान की महिमा दिखलाते हैं ।

यद्यत्तं तदसुत्र स्यादिति भाषा मृषार्थिनाम् ।

धेनुभिर्दीयते वस्य पलालाहारतः पयः ॥ ५४ ॥

अर्थ—' जो दान इस जनमें दिया गया है वह परलोकमें प्राप्त होगा । ऐसी इच्छा स्वार्थी लोगोंको रखना भी व्यर्थ है क्योंकि ग्राथ भी तो भूसा वा पुआल खाकर दूध देते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार गाय, पुआल घास वा भूसा खाती है; वह उसे खाकर घास वा भूसा ही नहीं देती किंतु दूध देती है । इसी प्रकार दानमें जो पदार्थ दिया जाता है वही प्राप्त नहीं होता किंतु उस दानमें अर्चित्य और अपरिमित फल प्राप्त होता है । इसलिये दान देकर बदलेमें प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये ।

आगे दानका फल बतलाते हैं ।

मुनिभ्यस्तुषपूपोपि दत्तः शुद्धस्वभावतः ।

भवेदनन्तधर्माय समये समुपस्थितः ॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि मुनियोंके लिये अपने शुद्ध परिणामोंसे भूसीका बना हुआ पूआ भी समयपर उपस्थित किया जाय तो उससे भी अनंत धर्मकी शासि होती है ।

भावार्थ—दान अपनी शक्ति के अनुसार दिया जाता है । यदि उसमें उत्तम पदार्थ नहीं हुए भी मुनियों के लिये निकृष्ट पदार्थ दिये

जायं तत्र तो देनेवालेके परिणाम लोभी होने के कारण पाप ही होता है परंतु यदि वरमें कुछ न हो भूसो आदि निकृष्ट पदार्थ ही हों और अपने लिये उन्हींका भोजन बनाया हो तथा ऐसे ही समयमें मुनियों के पधारनेका संयोग हो जाय; हृदयमें भक्ति श्रद्धा आदि गुण विद्यमान हों और विधि पूर्वक विनय पूर्वक वही त्रान दिया जाय तो उससे भी अनंत पुण्यकी प्राप्ति परिणामोंसे होती है। पृथ्यप्राप्ति पदार्थोंके ऊपर निर्भर नहीं है। अतएव दान देते समय अपने परिणाम शुद्ध अवश्य रखने चाहिये ।

आगे मौन धारण करनेके लिये कहते हैं ।

ब्रतलोपो हि लौलयेन सर्वेषामेव देहिनाम् ।

स हु मौने धृते न स्यात्तन्मौनमशनादिषु ॥ ५६ ॥

अर्थ——संसारके समस्त प्राणियोंके लोलुपता के कारण ब्रतका लोप हो जाता है। और वह लोलुपता मौन धारण करनेसे नहीं होती। इसलिये ब्रती श्रावकोंको भोजनादि कार्योंमें मौन धारण अवश्य करना चाहिये ।

भावार्थ——भोजन करते समय मौन अवश्य धारण करना चाहिये । मौन धारण करनेसे लोलुपता नष्ट होती है, जीवों की रक्षामें, आहारकी शुद्धता में ध्यान रहता है, और भोजन परिमित किया जाता है। इसलिये मौन अवश्य धारण करना चाहिए ।

आगे मौन धारण करनेके लाभ बतलाते हैं ।

श्रुतस्य विनयो मौनान्मौनान्नियमपालनम् ॥

ब्रताभिमानपम्पत्तिरेतस्मादेव देहिनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ——मौन धारण करनेसे श्रुतज्ञानका विनय होता है, नियमोंका पालन होता है और ब्रवोंके पालन करनेरूप संपत्ति भी प्राणियोंको इसी मौन धारण करनेसे होती है । २

भावार्थ——अधिक बोलनेसे श्रुतज्ञानका अविनय होता है। क्योंकि अधिक बोलनेसे कुछ न कुछ मिथ्याभाषण हो जानेकी संभावना अवश्य रहती है। तथा मिथ्या भाषण हो जाना वा कुछ अपशब्दोंका निकल

जाना ही श्रुतज्ञानका अविनय है। वह अविनय मौन धारण करनेसे दूर हो जाता है। तथा नियमोंका स्मरण उनके पालन करनेका स्मरण सब मौन धारण करनेसे ही होता है। अन्यथा बातों बातोंमें ही सब भूल जाते हैं। हम ब्रती हैं यह ज्ञान मौन धारण करनेसे ही होता है। अथवा ब्रत स्वात्माभिमान और संपत्तियाँ सब मौन धारण करनेसे ही प्राप्त होती हैं। इसलिये भोजनादि कार्योंमें मौन अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे मौनके भेद बतलाते हैं।

मनोमौनं वपुमौनं भाषामौनभिति त्रिधा ॥

भाषामौनविहीना ये ते परं पश्वो नराः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मनका मौन धारण करना, शरीरका मौन धारण करना और भाषाका मौन धारण करना इस प्रकार मौन तीन प्रकारका है। इनमेंसे जो भोजनादि कार्योंमें भाषा मौनसे भी रहित हैं उन मनुष्योंको निरे पशु समझना चाहिये।

भावार्थ—मनकी क्रियाको रोकना, मनसे कुछ चिंतवन न करना मनका मौन कहलाता है। शरीरवेते कुछ क्रिया न करना शरीरका मौन है। और वचनसे कुछ न कहना, सर्वथा चुप रहना भाषा मौन कहलाता है। इनमेंसे गृहस्थोंके लिये मनकी क्रिया रुकना अत्यंत कठिन है। मन अत्यंत चंचल है, कुछ न कुछ चिंतवन करता ही रहता है। इसलिये मनका मौन गृहस्थोंसे बन नहीं सकता। तथा शरीरका मौन भी नहीं बन सकता। क्योंकि भोजनादि कार्योंमें शारीरिक क्रिया करनी ही पड़ती है। वह गृहस्थ केवल वचनका मौन धारण कर सकता है। वह उसे अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे शाश्वदानके लिये कहते हैं।

सर्वस्य शासनस्यापि यथा श्रुतसमाश्रयः ।

भवत्येव तथा नित्यं विधातव्यं प्रयत्नतः ॥ ५९ ॥

अर्थ— यह समस्त शासन शास्त्रज्ञानके आधारपर ही टिका हुआ है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक शास्त्रदानः सदा देते रहना चाहिये।

भावार्थ— यह तीर्थकर परम देवका शासन, मोक्षमार्ग वा जैनधर्म सब शास्त्रके आधारपर ही टिक रहे हैं। इनमें युक्तियोंसे कुछ काम नहीं चल सकता। इस शासनका मुख्य ध्येय स्वपरमेदविज्ञानस्वरूप आत्म तत्त्वका जानना है। वह आत्मतत्त्व इंद्रियोंके अगोचर है। केवल शास्त्रोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव शास्त्रोंका स्वाध्याय पठन पाठन आदि खनेकेलिये शास्त्रदान करना चाहिये। मुनियोंको, विद्यार्थियोंको, स्वाध्याय करनेवालोंको तथा और भी जिनकी आवश्यकता हो उन्हें शास्त्र देना चाहिये।

आगे शास्त्रदानकेलिये और भी कहते हैं।

स्वाध्यायहेतवः सर्वे संप्रदेयास्तदर्थिनाम् ।

श्रुतवृद्धमुपाध्यायं तीर्थेशमिव मन्यताम् । ६० ॥

अर्थ— शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेकेलिये उनके चाहनेवालोंको समस्त शास्त्र देना चाहिये और उत्कृष्ट शास्त्रज्ञानको धारण करनेवाले उपाध्यायको तीर्थकरके समान मानना चाहिये।

भावार्थः— जिन जिनको शास्त्रोंकी आवश्यकता हो उन्हें पठन पाठन करनेकेलिये शास्त्र अवश्य देना, यांदे स्वयं पढाने योग्य हो तो पढाना चाहिये। तथा श्रुतज्ञानकी वृद्धिके जो जो उपाय हैं वे सब करने चाहिये। तीर्थकर जिस प्रकार उपदेश देन्हर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं उसी प्रकार उपाध्याय भी उन्हीं तीर्थकरोंके उपदेशका प्रचार करते हैं, अनेक शिष्योंको पढाते हैं, स्वाध्याय कराते हैं और धर्मोपदेश देते हैं। इसलिये उपाध्यायोंकी पूजा भक्ति विशेष। करना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानका लाभ दिखलाते हैं।

श्रुतबोधप्रदीपेन शासनं वर्ततेषुना ।

विना श्रुतप्रदीपेन सर्वं विश्वं लभोमयम् ॥ ६१ ॥

अर्थ— यह श्रुतज्ञान एक दीपकके समान है। वर्तमान समयमें इस जैन धर्मकी प्रवृत्ति इन शास्त्रोंसे; इनेवाले प्रकाशसे ही हो रही है। बिना शास्त्रोंके प्रकाशके फिर इस समस्त संसारको अंघकारमय ही समझना चाहिये।

भावार्थ— इस कराल कलिकालमें भी जो कुछ थोड़ी बहुत मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति दिखाई देती है वह शास्त्रोंका वा श्रुतज्ञानका ही प्रभाव है। मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें आत्मतत्त्वका ज्ञान श्रुतज्ञानसे ही होता है। यदि उस आत्मतत्त्वको दिखलानेवाला श्रुतज्ञान न हो—शास्त्र न हों तो फिर इस संसारमें सब औँ अंधेराही अंधेरा समझना चाहिये। शास्त्रोंके सिवाय इस जैन धर्मके स्वरूपको दिखलानेवाला और कोई नहीं है। अतएव श्रुतज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये, शास्त्रोंका दान देना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानकी महिमा जिखलाते हैं।

श्रुतवृद्धिर्मुनीन्द्रेषु प्रवर्तेण यथा यथा ।

तथा तथा निवर्तेत विश्वतो मोहसन्ततिः ॥ ६२ ॥

अर्थ— मुनियोंमें श्रुतज्ञानवाले वृद्धि जैसी जैसी बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे इस संसारसे मोहकी संतान नष्ट होती जाती है।

भावार्थ— मुनिगज शास्त्रज्ञानके द्वारा अपना मोह नष्ट करते हैं और धर्मोपदेश देका अन्य कितने ही भव्य जीवोंका मोह दूर करते हैं। इस प्रकार ज्यों ज्यों श्रुतज्ञानकी वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों मोह दूर होता जाता है। इसलिये श्रुतज्ञानकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये और उसके लिये शास्त्रदान अवश्य देना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानकी वृद्धिके लिये और भी हेतु देते हैं।

नद्यत्येव ध्रुवं सर्वं श्रुताभावेत्र शासनम् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत् ॥ ६३ ॥

अर्थ— यदि श्रुतज्ञानका अभाव हो जाय तो इस संसारमें समस्त

जैन धर्मका वा मोक्षमार्गका अवश्य ही राश हो जाय । इसलिये पूर्ण प्रयत्नके साथ इस श्रुतज्ञानका उद्धार करना चाहिये ।

भावार्थ—ऊपर यह बता चुके हैं कि इस मोक्षमार्गकी स्थिति शास्त्रज्ञानके ही आधार पर है । विना शास्त्रज्ञानके यह सब शासन, यह सब धर्म ठहर नहीं सकता । इसलिये इस श्रुतज्ञानकी वृद्धिके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये और अपनी सब शक्ति लगाकर भी इसका उद्धार कर लेना चाहिये ।

आगे श्रुतज्ञानका और भी लाभ दिखलाते हैं ।

श्रुतात्त्वपरामर्शः श्रुतात्समयवृद्धनम् ।

तीर्थेशाभावतः सर्वं श्रुताधीनं हे शासनम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—श्रुतज्ञानसे तत्त्वोंका विचार होता है । श्रुतज्ञानहींसे धर्मकी वृद्धि होती है । और तीर्थकरोंके अभावमें यह समस्त धर्म श्रुतज्ञानके ही आधीन हो जाता है ।

भावार्थ—आत्मतत्त्वके विचारमें भी श्रुतज्ञान ही कारण है । और मोक्षमार्गकी वृद्धि वा धर्मकी वृद्धिमें भी श्रुतज्ञान ही कारण है । इस मोक्षमार्ग वा जैन धर्मका प्रचार तीर्थकर प्रमदेव करते हैं । जब वे नहीं रहते तब इसका प्रचार श्रुतज्ञानके आधीन हो जाता है । फिर इसका प्रचार श्रुतज्ञानसे ही हो सकता है । विना श्रुतज्ञान के फिर इसके प्रचारका और कोई साधन नहीं है । इसलिये श्रुतज्ञानकी वृद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

आगे शाश्वदानकी महिमा दिखलाते हैं ।

श्रुतदानात्परो बोधः शाश्वतोऽप्य प्रपद्यते ।

श्रुतोपधिप्रधानेन सर्वोत्तमपदं भवेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—ज्ञानदान देनेसे इस जीवको सदा प्रकाशमान रहनेवाला केवलज्ञान प्रगट होता है और शाश्वतज्ञानके साधनोंका—शाश्व आदिकों का दान देनेसे इस संसारमें भवसे उत्तम एव प्राप्त होता है ।

भावार्थ—शास्त्र दान करना स्वाध्यायशाला बनवादेना आदि सब श्रुतज्ञानके साधन हैं। जिस प्रकार ज्ञान दान देनेसे पठन पाठन करनेसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार ज्ञानके साधनोंका दान देनेसे भी उत्तमोत्तम पद प्राप्ति होती है। अतएव ज्ञान दान-शास्त्रदान सदा करते रहना चाहिये।

आगे श्रुतज्ञानियोंकी दुर्लभता दिखलाते हैं।

स्वदेहायाससंलीनाः सुलभाः स्युः पदे पदे ॥

श्रुततत्त्वार्थसम्पन्ना दुर्लभास्ते नरोत्तमाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो अपने शरीरके परिश्रम करनेमें लगे रहते हैं ऐसे मनुष्य स्थान स्थानपर बड़ी सुलभता से मिल सकते हैं। परंतु जिन्होंने श्रुतज्ञानके द्वारा तत्त्वोंके स्वरूपको अच्छी तरह समझ लिया है ऐसे उत्तम मनुष्य इस संसारमें बहुत दुर्लभ हैं।

भावार्थ—प्रथम तो श्रुतज्ञानका प्राप्ति होना ही अत्यंत कठिन है और फिर उसमें भी आत्मतत्त्ववत् ज्ञानना अत्यंत कठिन है। अतएव मनुष्यजन्म पाकर और आत्मज्ञानकी सब सामग्री पाकर श्रुतज्ञान और आत्मज्ञानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। यह अभ्यास मनुष्य जन्ममें ही हो सकता है। और मनुष्यजन्म बड़ी कठिनतासे प्राप्ति होता है। इसलिये ऐसे इस मनुष्यजन्मको पाकर व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। श्रुतज्ञान और आत्मज्ञान धारण कर इसे सफल बनाना चाहिये।

आगे ज्ञानकी महिमा दिखलाते हैं।

(तीव्रतीत्रतपोभारेनिवौधि यत्फलं भवेत् ॥

तदेव बोधसंपत्तौ लवार्थं फलं भवेत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—विना ज्ञानके अंतर्गत कठिन कठिन तपश्चरणोंके करनेसे जो फल मिलता है वही फल ज्ञानरूपी संपत्तिके प्रगट हो जाने पर आधे क्षणमें ही पाप हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानकी आधार महिमा है। जबतक स्व-

परमेदविज्ञानस्वरूप आत्मज्ञान नहीं होता तबतक कठिन कठिन तपश्चरण करनेसे भी कोई लाभ नहीं होता। जबतक वह आत्मतत्त्व कर्मतत्त्व और कर्मोंसे होनेवाले क्रोधादिक विकारों को समझेगा ही नहीं तबतक वह उन क्रोधादि विकारोंको दूर करनेका उपाय ही नहीं करेगा और न कर्मोंके नाश करनेका उपाय करेगा। ऐसी अवस्थामें उस मिथ्या तपसे कोई भी लाभ नहीं हो सकता। तपका फल ही कर्मोंका नाश होना है और वह कर्मोंका नाश आत्मतत्त्वके ज्ञान होनेपर हो सकता है। इसलिये सबसे पहले आत्मतत्त्वका ज्ञान संपादन करना चाहिये और उसके लिये शास्त्रोंका अठन पाठन करना चाहिये, स्वाध्याय करना चाहिये और शास्त्रदान देना चाहिये।

आगे औषधदानको कहते हैं।

शारीरा मानसा बाह्यात्मिका व्याधयो मताः ।

ब्रह्मस्थानां ब्रतस्थानां तदभावो विधीयताम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—संसारमें व्याधियाँ तीनः प्रकारकी हैं। शारीरिक व्याधि मानसिक व्याधि और बाहरसे आनेवाली आगंतुक व्याधि। मनमें उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको मानसिक व्याधि कहते हैं। शरीरमें उत्पन्न होनेवाले फोड़ा ज्वर रोग आदि दुःखोंको शारीरिक व्याधि कहते हैं। और उपसर्गोंको बाह्य व्याधि कहते हैं। यदि ये व्याधियाँ ब्रती मुनियोंके हो तो उन्हें अवश्य दूर करना चाहिए। औषधदान देकर अथवा टहल चाकरी करके उन व्याधियोंको दूर करना चाहिये। भुनियोंकी वैयावृत्य करना गृहस्थोंका मुरुर कर्तव्य है।

आगे शारीरिक व्याधियोंको दूर करनेके लिये कहते हैं।

धातुदोषमलादिभ्यः संभूता बहुभेदतः ।

शारीरा व्याधयो यत्तान्निक्षेत्रव्यास्तपस्तिवनाम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—धातु उपधातुओंके दोषसे उत्पन्न हुए अथवा मलसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके शरीरसंबंधी मुमैयोंके रोगोंको बड़े यत्नसे दूर करना चाहिये।

भावार्थ—रोग होजानेपर भी मुनिराज किसीसे कहते नहीं, न आहारके समयके सिवाय दूसरे सम्बन्ध वे औषधि ले सकते हैं। इसलिये बड़े यत्नसे रोगोंको जानका चाहिये और मालुम हो जानेपर बड़े प्रयत्नसे आहारके साथ औषधिं देकर रोगोंको दूर करना चाहिये।

आगे मनके दुःखोंको दूर करनेके लिये कहते हैं।

दौर्मनस्यमनस्तापदुःस्वभादैसमुद्भवाः ॥

मानसा व्याधयोन्येषि निहंतव्या ब्रतार्थिनाम् ॥ ७० ॥

अर्थ—मनकी चंचलता, फ़लका संताप और अशुभ स्वभ आदिसे उत्पन्न होनेवाले मुनियोंके सानसिक दुःखोंको भी दूर करना चाहिये।

भावार्थ—मनके दुःखोंके चो जो कारण हैं उनको दूर कर देना चाहिये और जिस प्रकार उल्लक्ष मन निश्चित हो वही प्रबंध कर देना चाहिये।

आगे आगंतुक व्याधियोंको तूर करनेके लिये कहते हैं।

शीतवातादयो बाह्या व्याधयो बहुभेदतः ॥

सर्वान् संयमिनां हत्वानंतर्गम्स समाहरेत् ॥ ७१ ॥

अर्थ—शीत वायु गर्भी डांस मल्लर आदि अनेक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले दुःख बाह्य दुःख कहलाते हैं। गृहस्थोंको मुनियोंके समस्त बाह्य दुःख दूर कर अनंत पुण्यका संचय करना चाहिये।

भावार्थ—बाहरसे जो आकर्षित दुःख आ जाते हैं वे सब बाह्य दुःख हैं। मुनियोंके ये सब दुःख भी दूर कर देना चाहिये। मुनियोंके दुःख दूर करनेसे—वैयाकृत्य करनेसे गृहस्थोंको अनंत पुण्यकर्मोंका बंध होता है।

आगे औषधिदानके लिये कहते हैं।

स्वल्पसावद्यसम्पर्महामूल्यर्महोषधैः ।

धर्मार्थं मुनिदेहस्थान् छ्यायीन् यत्नेन संहरेत् ॥ ७२ ॥

अर्थ— बड़ी बड़ी महामूल्यकी औषधियाँ जो थोड़े ही आरंभोंसे बन जाती हों उन औषधियोंके द्वारा धर्मकी वृद्धिके लिये मुनियोंके शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंको बड़े प्रयत्नसे दूर करना चाहिये ।

भावार्थ— सादिक औषधियाँ जो शुद्ध हों जिनके तैयार करनेमें अधिक पापारंभ न करना पड़े ऐसी औषधियोंके द्वारा रोगोंको दूर करना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि मुनिराज तो अपने शरीरसे ममत्व रखते नहीं और रत्नत्रयकी सिर्ज्जि शरीरसे ही होती है तथा मुनियोंके शरीरकी रक्षा गृहस्थोंके हाथ है । अतएव मुनियोंके शरीरके रोग दूर करना, सेवा चाकरी करना, जीयावृत्य करना गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है । गृहस्थोंको यह कार्य बड़े प्रयत्नसे करना चाहिये ।

आगे औषधिदानका फल दिखलाते हैं ।

द्रव्यदेहप्रयासेन मुनिव्याधिभ्रतं तुदन् ।

दिव्यदेहो भवेद्द्रव्यः सर्वसमतिभूषितः ॥ ७३ ॥

अर्थ— जो भव्य जीव औषधि आदि द्रव्यके द्वारा अथवा शरीरके परिश्रमसे मुनियोंकी सैकड़ों व्याधियोंको दूर करता है वह दिव्य शरीरको पाता है और समस्त संपत्तियोंसे सुशोभित होता है ।

भावार्थ— औषधिदानका फल दिव्य और नीरोग शरीरका प्राप्त होना है । उस दिव्य शरीरके साथ साथ इंद्र अहमिंद्र आदिकी अनुपम विभूतियाँ प्राप्त होती हैं और परम सुख प्राप्त होता है । इसलिये औषधिदान अवश्य देना चाहिये ।

आगे समाधिमरणके धारण करनेका उपदेश देते हैं ।

दुःसंवारे महाव्याधौ वृद्धत्वे ; दुस्तरेथवा ॥

सुरासुरनरादिभ्यो मृत्योर्वा ऋमुपस्थिते ॥ ७४ ॥

धान्याभावे महावैरे संप्राप्ते वा द्विषद्वले ॥

धर्मवृत्ततपोहनिहेतौ वा समुपस्थिते ॥ ७५ ॥

देहे धर्मविधौ मन्दे स्वान्ते विष्णुलताभिते ॥

संन्यासः प्रविधातव्यो धर्मस्थैर्भवभीरुभिः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जिसका कोई उपाय न हो सके—जो आराम न हो सके ऐसा कोई महारोग होगया हो अश्वा अत्यंत बुढ़ापा आगया हो अथवा किसी देव विद्याधर वा मनुष्यके द्वाण होनेवाली मृत्यु समीप आगई हो, दुर्भिक्ष आदि के कारण अक्षादिकक्षत मिलना असंभव होगया हो, किसी के साथ प्रबल शत्रुता होगई हो और उसमें मरना अनिवार्य होगया हो, अपने देशपर किसी बलवान् शत्रुकी सेना चढ आई हो, धर्मको हानि पहुंचानेवाले, चारित्रिको हानि पहुंचानेवाले वा तपश्चरणको हानि पहुंचानेवाले कारण उपस्थित होगये हों, अपना शरीर धार्मिक कार्योंके करनेमें शिथिल होगया हो अथवा मन अत्यंत व्याकुल होगया हो तो संसारके दुःखोंसे डरनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंको समाधिमरण धारण कर लेना चाहिये।

भावार्थ—जो किसी भी डगायसे दूर न हो सके ऐसे रोगोंके उत्पन्न हो जाने पर वा अत्यंत बुढ़ापा आजानेपर अथवा आयुका अत करनेवाले बाह्य कारणोंके मिल जानेपर धर्मात्माओंको समाधिमरण अवश्य धारण करलेना चाहिये।

आगे समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं ।

स्नेहं स्त्रीपुत्रमित्रादौ मोहं श्रीमारवैभवे ।

द्वेषं शात्रवसन्ताने हित्वा संन्यासमाश्रयेत् ॥ ७७ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र मित्र आदिर्भुवं स्नेह छोड़कर धनसंपत्तिसे मोह छोड़कर और शत्रुओंसे द्वेष छोड़कर समाधिमरण धारण करना चाहिये।

भावार्थ—समाधिमरण धारण करनेके पहले राग द्वेष और मोहको अवश्य छोड़ देना चाहिये। जबतक रागद्वेष मोहका त्याग कर मन शुद्ध न किया जायगा तबतक समाधिमरण धारण हो ही न सकेगा। अतएव सबसे पहले इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।

आगे तप करने योग्य पुरुषोंको समाधिमरण धारण नहीं करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं।

वृत्तं धर्तुं तपस्तप्तुं दमथोपि सदीहते ॥

संन्यासं स व्रतद्वेषी नियतं परिभाव्यताम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो मुनि चारित्र धारण करने और तपश्चरण करनेमें समर्थ होकर भी यदि समाधिमरण धारण करना चाहता हो तो उसे व्रतोंका द्वेषी ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—जबतक व्रत चारित्र और तप धारण करनेकी शक्ति हो तबतक समाधि मरण कभी धारण नहीं करना चाहिये ।

ऐसी शक्ति रहनेपर भी जो समाधिमरण धारण करना नहे तो समझना चाहिये कि वह तप करना नहीं चाहता अथवा चारित्रको ही धारण करना नहीं चाहता । अतएव जबतक तप और चारित्र धारण करनेकी शक्ति हो तबतक संन्यास कभी नहीं धारण करना चाहिये ।

आगे समाधिमरण कब धारण करना चाहिये सो कहते हैं ।

यावत्प्रवर्तते देहस्तावद् वृत्ताथ नोद्यताम् ।

दुर्बले मन्दसत्त्वस्थे देहे मृतिमुपाश्रयेत् ॥ ७९ ॥

अर्थ—जबतक शरीर अपना काम करता रहे तबतक चारित्र धारण करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिये । जब शरीर निर्वल हो जाय, काम करनेकी शक्ति न रहे तब समाधिमरण धारण करना चाहिये ।

भावार्थ—समाधिमरण तब धारण करना चाहिये जब यह शरीर सर्वधा बेकार और नष्ट होनेके सन्मुख हों जाय । जबतक शरीर चलता रहे तबतक तपश्चरण ही करना चाहिये ।

आगे निर्यापिकाचार्यके समीप जानेके लिये कहते हैं ।

वर्षद्वादशपर्यन्तं देशे देशे भ्रमन् व्रती ।

संन्यासविधिधौरेयं साधुः सुरि निभालयेत् ॥ ८० ॥

अर्थ—व्रती साधुको बाहर वर्ष तक प्रत्येक देशमें घूम फिर कर समाधिमरण की विधिके जानेमें अत्यन्त चतुर मुरुद्य आचार्यको छुट्टे लेना चाहिये ।

भावार्थ—समाधिमरणके लिये निर्यापिकाचार्य की अत्यंत आवश्यकता रहती है। निर्यापिकाचार्यके विज्ञा समाधिमरणकी विधि निर्बिश्वरीतिसे अच्छी तरह नहीं पलः सकती। अतएव समाधि मरण धारण करनेके लिये किसी उत्तम और मुख्य आचार्यसे प्रार्थना करनी चाहिये। यदि ऐसा आचार्य समीप न हो। तो ऐसे आचार्यको द्वंदनेके लिये बारह वर्ष तक देश देशांतरमें अमण करना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि समाधि मरणकी मर्यादा बारह वर्ष तक है। अधिक बारह वर्ष तक समाधिमरण धारण किया जा सकता है।

आगे शल्योंके त्याग करने और व्रतोंकी शुद्धिके लिये कहते हैं।

पादमूले स्थितस्तस्य शल्यत्रितयमुद्धरन् ।

मूलोत्तरव्रतादीनां तथा शुद्धि समाश्रयेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—उन आचार्यके चरणकम्लोंके समीप रहकर माया मिथ्या निदान इन शल्योंका त्याग कर देना चाहिये और मूलगुण तथा उत्तरगुण दोनों प्रकारके व्रतोंकी शुद्धि धारण करना चाहिये।

भावार्थ—माया मिथ्या निदान ये तीनों शल्य बड़ी ही प्रबल हैं। जबतक इनका त्याग नहीं होता तबतक वह व्रती ही नहीं कहला सकता। अतएव सबसे पहले इन तीनों शल्योंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। तदनंतर उस सावरको अपने व्रतःशुद्ध करने चाहिये। उनमें जो कुछ अतिकार लगे हों उनका आलोचन। प्रतिक्रमण करना चाहिये और आगे के लिये कोई दोष न लगन पावे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

आगे भोजनके त्याग करनेकी विधि बतलाते हैं।

धान्यानि विधिना हित्वा तीव्रतीव्रस्तपोवलैः ।

ततोपि सरसं पेयं नीरसं हापयेत्ततः ॥ ८२ ॥

अर्थ—अत्यंत धोर तपश्चरणके द्वारा सबसे पहले विधिपूर्वक अनुक्रमसे सब प्रकारके धान्योंका त्याग कर देना चाहिये। तदनंतर दूष आदि सरसं पेय [पीने योग्य] पदार्थोंका त्याग करना चाहिये।

और फिर नीरस पेयका त्याग करना चाहिए ।

तदनंतरः—

सर्वं पेयं ततो हित्वा शुद्धे तोये स्थितिं श्रयेत् ।

शुद्धतोयं ततो नूनं विधिना पर्त्तिहापयेत् ॥ ८३ ॥

अर्थ— तदनंतर सब प्रकारके पेय पाठ्यांका त्याग कर शुद्ध जलके सहारे अपनी स्थिति रखना चाहिये । और फिर विधिपूर्वक शुद्ध जलका भी त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ— आहारका त्याग कर दूधका सहारे रहना चाहिये । दूधका त्याग कर छाड़के सहारे रहना चाहिये । छाड़का त्याग कर गर्म जलके सहारे रहना चाहिये । और फिर गर्म जलका भी त्याग कर उपवास धारण करना चाहिये । इन सबका त्याग अनुक्रमसे विधिपूर्वक करना चाहिये यदि आकस्मिक घटनाओं के कारण अथवा अन्य किसी कारणसे इतना समय न मिले तो फिर सब प्रकारके आहारका त्याग एक साथ करदेना चाहिये और अत्में अपनी शक्तिके अनुसार उपवास धारण करना चाहिये ।

आगे दोषों के दूर करनेके लिये कहते हैं ।

सिद्धांतमतरीत्यैव रत्नत्रयपथस्थितः ।

सर्वदोषपरीहारं विषेयाद्विधिना ततः ॥ ८४ ॥

अर्थ— उस समय साधकको सिद्धांत शास्त्रोंमें कहे अनुसार विधिसे ही रत्नत्रयके मार्गमें विराजमान होना चाहिये और फिर विधिपूर्वक सब दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ— उस समय निर्यापिकाचार्य की आज्ञानुसार शास्त्रानुकूल विधिसे रत्नत्रयका पालन करना चाहिये और फिर उन्हीं आचार्यकी आज्ञानुसार दोषोंका त्याग करदेना चाहिये ।

आगे आराधनाओंको कहते हैं ।

रत्नत्रयं तपोलीनं सर्वदोषविहृतम् ।

त्रिशुद्धाराध्यते यत्रःपा शुद्धाराधना स्मृता ॥ ८५ ॥

अर्थ— मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक सब दोषोंसे रहित रत्नत्रयसा आराधन करना और तपश्चरणका आराधन करना ये चार शुद्ध आराधनाएं कहलाती हैं।

भावार्थ— सम्यदर्शन सम्प्रज्ञान सम्यक्चारित्र और तप ये चार आराधना कहलाती हैं। इनको मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक आराधन करनेसे अजर अमर पद गाप हुँ जाता है। ये आराधनाएं साक्षात् मोक्षकी कारण हैं इसलिये आराधकको समाधि मरण के समय ये अवश्य धारण करनी चाहिये।

आगे निश्चय आराधनाओंसे बतलाते हैं।

दर्शनादिप्रभेदेन सा स्मृता व्यवहारतः ।

परमार्थात् पुनः सोयमात्मैव परमेश्वरः ॥ ८६ ॥

अर्थ— दर्शन ज्ञान चारित्र और तप ये आराधनाके चार भेद व्यवहार नयसे बतलाये हैं। यदि निश्चय नयसे देखा जाय तो परब्रह्म परमात्मस्वरूप आत्मा ही आराधना स्वरूप है।

भावार्थ— जिसका आराधन किया जाय चित्तवन किया जाय वाद्यान किया जाय उन्हें आराधना कहते हैं। व्यवहार नयसे सम्यदर्शन आदि चारों आराधनाओंका आराधन अलग अलग किया जाता है। परंतु निश्चय नयसे अपने शुद्ध आत्मा का ही आराधन किया जाता है। सम्यदर्शनादिक चारों ही आत्मा के गुण हैं। यदि इन को गुणरूप से पृथक् पृथक् चित्तवन किया जाय तो अपने आप यह व्यवहार नय हो जाता है। क्योंकि गुण गुणीका भेद व्यवहार नयसे नहीं होता है। शुद्ध निश्चय नयसे गुण गुणी अभिन्नस्वरूप होते हैं। अतएव शुद्ध निश्चय नयसे अपना आत्मा ही चारों आराधनाओं मध्य है। इसलिये शुद्ध निश्चयनयसे अपने शुद्ध स्वरूप सचिदानन्दमय आत्मका ही ध्यान करना चाहिये।

आगे आत्माके चितवनमें सबका चितवन आजाता है ऐसा दिखलाते हैं ।

बोधदर्शनवृत्तानि तपसा सह सर्वदा

शुद्धात्माराधने नूनं सर्वमागाधितं भवेत् ॥ ८७ ॥

अर्थः——अपने शुद्धस्वरूप आत्माका चितवन कर लेनेपर सम्यगदर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र और रूप इन सबका आराधन अवश्य हो जाता है ।

भावार्थ——गुणोंका समुदाय ही शब्द कहलाता है । आत्मा द्रव्य है और चारों आराधनाएं उसके गुण हैं । चारों आराधनाओंका समुदाय ही आत्मा है । अतएव आत्माका चितवन करनेसे चारों आराधनाओंका चितवन अपने आप हो जाता है । साधक को समाधिमरण के समय सब विकल्पोंका त्याग कर और भन्नो निश्चल कर शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये ।

आगे शुद्ध आत्माका स्वरूप और उसके आराधन करनेकी विधि बतलाते हैं ।

शुद्धात्मभावसंवित्तिरूपमात्मानमात्मगः ।

बोधदर्शनभावाभ्यां भावयंक्षम्यो भवेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ——यह अपना आत्मा शुद्ध आत्माके स्वभावसे उत्पन्न हुआ शुद्धज्ञानस्वरूप है । इसलिये सम्यगदर्शन और सम्यज्ञानरूप आत्माके परिणामोंसे चितवन करते हुए तन्मय हो जाना चाहिये ।

भावार्थ——अपना आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है और शुद्ध दर्शनस्वरूप है । अतएव साधकको इन्हीं दोनों भावोंका इन्हीं दोनों भावोंसे चितवन करते हुए तन्मय हो जाना चाहिये । तन्मय हो जाना ही आत्ममय हो जाना है, और वही शुद्ध आत्माका ध्यान कहलाता है । शुद्ध आत्मध्यानके समय ध्याता ध्येय और ध्यानमें कुछ अंतर नहीं रहता । उस समय ध्यान करनेवाला ध्याता भी शुद्ध आत्मा ही

होता है। ध्येय भी शुद्ध आत्मा ही होता है और ध्यान भी शुद्ध आत्म-स्वरूप ही होता है। क्योंकि उस समय अपना ही शुद्ध आत्मा अपने ही शुद्ध आत्मामें लीन होकर उसी अंगे शुद्ध आत्माका चित्तवन करता है। यही निश्चय ध्यान है। यह समाधे मरणके समय आराधकको अवश्य धारण करना चाहिये।

आगे अनंतसुख परमात्मस्वरूप है ऐसा दिखलाते हैं।

ब्रतं दूरे तपो दूरे दूरे संयमभावना ।

परानंदसुधास्वादो न दूरे परमात्मनः ॥ ८९ ॥

अर्थ—अपने शुद्धस्वरूप परमात्मासे ब्रत भी दूर है, तप भी दूर है और संयम की भावना भी दूर है। परंतु परम आनंद स्वरूप अमृतका स्वाद दूर नहीं है।

भावार्थ—अपने शुद्धस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके समय ब्रत भी छूट जाते हैं, तप भी छूट जाता है और संयम भी छूट जाता है। परंतु सच्चिदानन्द स्वरूप अनंत सुखरूपी अमृतका आस्वादन नहीं छूटता। ब्रत तप संयम आदि सब शुद्धाभाकी प्राप्तिके साधन हैं। जब शुद्धात्मस्वरूप साध्यकी सिद्धि हो जाती है तब साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। अतएव असमय ब्रतादिक तो सभी छूट जाते हैं या शुद्धात्मामें लीन हो जाते हैं परंतु अनंत सुखामृत उसी समय प्रगट होता है और फिर वह सदा प्रगटस्त ही रहता है। न वह छूटता है और न वह किसी में लीन होता है। वह शुद्ध आत्माके साथ साथ सदा विद्यमान रहता है। इसलिये साधकको शुद्ध आत्माकी प्राप्तिका ही उपाय करना चाहिये।

आगे स्वानुभूतिकी महिमा दिखलाते हैं।

स्वानुभूतिलबोपीह येन संभूश्यते स्वयम् ॥

ब्रृत्तवृद्धास्तपोवृद्धाः सेवन्ते तत्पदद्वयम् ॥ ९० ॥

अर्थ—जो साधक इस संसारमें स्वानुभूतिके एक भाग मात्रको

भी स्पर्श कर लेता है उसके दोनों काण कमल बड़े बड़े चारित्रको धारण करने वाले और घोर तपश्चरण करनेवाले सब मुनि सेवन करते हैं ।

भावार्थ—स्वानुभूतिकी अचित्य महिमा है । इसके सामने चारित्र और तपश्चरण कोई चीज नहीं हैं । बड़े बड़े तपस्वी भी स्वानुभूतिकी महिमाका वर्णन करते हैं । इस स्वानुभूतिके स्पर्श करनेमात्रसे ही बड़े बड़े तपस्वी सेवक बन जाते हैं । इसलिये साधक को स्वानुभूति के प्रणट करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

आगे सल्लेखनाके अतिचार दिखलाते हैं ।

शंसा मृत्योरमृत्योर्वा प्रीतिवै बांधवादिषु ।

शर्मानुबंधसंधानं निदानैः सह तन्मलम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—जीवित रहनेकी आशा रखना, मरनेकी आशा रखना, भाई बंधुओंमें प्रेम करना, भोगे हुए सुख का स्मरण करना, और निदान ये पांच समाधि परणके अतिचार हैं ।

भावार्थ—साधक अवस्थामें अपना आदर सत्कार अधिक होता देखकर अधिक जीवित रहनेकी इच्छा रखना पहला अतिचार है । रोगादिकके कारण अधिक दुःखी होनेपर शीघ्र ही मरनेकी इच्छा रखना दूसरा अतिचार है । बंधु बांधवोंमें वा मित्रोंमें प्रेम रखना तीसरा अतिचार है । सुखोंका स्मरण करना चौथा अतिचार है और आगामी कालके लिये भोगोंकी इच्छा करना पांचवा अतिचार है । इन सब अतिचारोंसे परिणाम विकल होते हैं और व्याकुल परिणामोंसे ध्यान नहीं हो सकता । अतएव साधकको सब अतिचारोंका त्याग कर समता भाव धारण करना चाहिये । शांत परिणामोंसे पंच पामेष्टीका चित्तवन करना चाहिये और शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये ।

आगे आगधनासे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा दिखलाते हैं ।

विशुद्धाराधना यस्य तद्वेष्यि स सिद्धयति ।

मध्यमायां भवाः सप्त हीनायां बहवो भवाः ॥ ९२ ॥

अर्थ-जो साधक विशुद्ध भावोंसे आराधनाओंका आराधन करता है वह उसी भवसे सिद्ध हो जाता है। जो उन्हीं आराधनाओं को मध्यम भावोंसे आराधन करता है वह सात्र भवमें मुक्त हो जाता है। और जो आराधनाओंका आराधन नहीं करता वह अनंत भवतक संसारमें ही परिग्रामण करता रहता है।

भावार्थ-पहले भी कह चुके इंहें कि शुद्ध आराधनाएं शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। जो साधक अपने शुद्ध आत्मामें लीन होकर अपने शुद्ध आत्मासे अपने ही शुद्ध आत्माका वित्तवन करता है वह अवश्य ही उस भवसे मुक्त हो जाता है। तथा जो आराधक अपने आत्माको इतना शुद्ध नहीं कर सकता वह कर्मोंको रूष भी नहीं कर सकता, वह मध्यम भावोंसे ध्यान करता है इसलिए वह इंद्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतियोंका अनुभव करता हुआ सात्र भवमें मुक्त हो जाता है। और जो आराधनाओंका आराधन नहीं करता वह कभी मुक्त नहीं होता। वह सदा संसारमें ही परिग्रामण करता रहता है। मोक्ष प्राप्तिका उपाय आराधनाओंका आराधन करना है इसलिये साधकको इन आराधनाओंका आराधन अवश्य करना चाहिये।

आगे सम्यग्दर्शनकी महिमा ढिलते हैं।

यद्याराध्यो भवेद्भव्यो मुहुर्त्मपि दर्शनी ।

निर्वाति नियमात्सोपि तदस्त्र प्रयतो भवेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ-यदि भव्य जीव आराधना करता एक मुहुर्तके लिये भी सम्यग्दर्शन धारण करले तो वह भी समयानुसार अवश्य मुक्त हो जाता है। इसलिये इस संसारमें आकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ -यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्माका निजी गुण है, आत्मासे कभी भिन्न नहीं होता तथापि वह अनादिकालसे कर्मोंसे ढका हुआ है। यदि वह सम्यग्दर्शन आत्माका गुण एक बार मुहुर्त भरके लिये भी

प्रगट हो जाय—मुहूर्त भरके लिये भी उस गुणको ढकनेवाले कभीका उपशम हो जाय तो उसके मोक्ष जानेवा निश्चय अवश्य हो जाय । यदि वह सम्यदर्शनको प्राप्त कर रुद्र चारित्रिको धारण करले तो उसी भवसे मुक्त हो जाय; अन्यथा वह श्वेते भवोतक स्वर्गादिकोंके अनुपम उख भोगता हुआ सात भवमें मुक्त हो जाता है। सम्यदर्शन प्राप्त कर लेनेपर वह मुक्त अवश्य होता है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं ।

आगे—बालबालमरणके त्यागका उपदेश—

दुस्तरापारसंसारे बालबालमृतिः पुरा-॥

नन्तानन्ताश्रिता पूर्वं तदात्मन् प्रयतो भव ॥ ९४ ॥

अर्थ—जिससे पार होना अत्यंत कठिन है ऐसे इस अपार संसार-में परिश्रमण करते हुए इस जीवने पहुँचे अनन्तानन्त बार बाल बाल, मरण किया है। इसलिये हे आत्मन् अब त्रुष्णे सम्यदर्शन प्राप्त करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ।

भावार्थ—मरण पांच प्रकारका है। बालबाल मरण, बालमरण, बालपंडित मरण, पंडित मरण और पंडितपंडित मरण। इनमेंसे केवली भगवान्‌के निर्विण होनेको पंडितपंडित मरण कहते हैं। चारित्रिको धारण करनेवाले मुनियोंका मरण पंडित मरण है। देशविभती श्रावकोंका मरण बालपंडित मरण है। अवित एषाद्युष्टीका मरण बाल मरण है। मिथ्या दृष्टिना मरण बालबाल मरण है। जवतक सम्यदर्शन प्रगट नहीं होता तब तक इस जीवका मरण बालबाल मरण ही होता रहता है। और ऐसा वह बालबाल मरण अनन्तवार हो सका है। यदि यह आत्मा पूर्ण प्रयत्न करके सम्यदर्शनको धारण करले तो फिर सदाके लिये इसका यह दुःखदायी बालबाल मरण छूट जाय। अतएव मनूष्यजन्म पाकर सम्यदर्शन धारण करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये ।

आगे मिथ्या दर्शनका त्याग करासके लिये कहते हैं ।

मिथ्याभावपराधीनो बालमृत्युननन्तशः ।

प्राप्तोस्यात्मन् भवावर्ते तदाग्रधय दर्शनम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् । तेन मिथ्यात्वरूप भावोंके पराधीन होकर इस संसार महासागरमें अनंतवार बालबाल मरण किया है । अतएव इससे बचनेकेलिये तू अब सम्यग्दर्शन आराधन कर ।

भावार्थ—बालबाल मरण सम्यादर्शन के बिना ही होता है । यह जीव अनादि कालसे इस संसार—महासागरमें परिम्रिमण कर रहा है और तबसे अबतक बराबर बालबाल मरण ही धारण कर रहा है । अनंतानंतवार बालबाल मरण धारण कर लिया है । तथा जबतक तू बालबाल मरण धारण करता रहेगा तबतक कभी सुखी नहीं रह सकेगा । यदि तू सुखी रहना चाहता है और संसार—महासागरसे पार होना चाहता है तो तुझे सम्यग्दर्शन का आराधन कर लेना चाहिये । सम्यग्दर्शन के प्राप्त होमेपर न तो बालबाल मरण हो सकता है, न यह जीव संसारमें परिम्रिमण कर सकता है और न फिर कभी दुःखी हो सकता है । इसलिये मनुष्य जन्म पाकर समाधिमरणको धारण करते हुए सम्यादर्शनका आराधन अवश्य करना चाहिये ।

आगे मिथ्याज्ञानको छोड़ न्नेके लिये उसका प्रभाव दिखलाते हैं ।

बालमृत्युशतं प्राप्तोनंतानंतभवस्थितौ ।

स्वात्मतत्त्ववहिर्भूतो मिथ्याचोधमहाप्रपात ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् तू मिथ्याज्ञानके महाब्रम्में पड़कर आत्मतत्त्वके स्वपर मेदस्वरूप ज्ञानसे पराङ्मुख हो रहा है और इसीलिये तेने अनंतानंत भवोंको धारण करनेवाले इस संसार में अनंतवार ही बालबाल मरण धारण किया है ।

भावार्थ—इस जीवने आजतक जो अनंतवार बाल बाल मरण धारण किया है, अनंत भव धारण किये हैं और आत्मतत्वसे बहिर्भूत हो रहा है सो मिथ्याज्ञान के यहा अपमें पड़कर ही उसने ऐसा किया है । यदि मिथ्या ज्ञान छूट जाय तो उसके साथ बालबाल मरण—भवभ्रमण आदि सब छूट जाय । इसलिये समाधिमरण धारण करनेवाले साधकको मिथ्याज्ञान अवश्य छोड़ देना चाहिये ।

आगे मिथ्याचारित्र का त्याग करनेके लिये कहते हैं ।

बालबालमृति प्राप्तोनंतवारान् भवेभ्रमे ।

मिथ्यावृत्तपथे लीनः सद्गुर्जावृतिमोहवान् ॥ ९७ ॥

अर्थ—सम्यक् चारित्रिको आवरण करनेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्याचारित्रिको धारण करनेमें लीन हुए और अनंत संसारमें परिश्रमण करते हुए इस जीवने अनंत बार ही बालबाल मरण धारण किया है।

भावार्थ—बालबाल मरण का कारण मिथ्या चारित्र है। अतएव आराधकको मिथ्या चारित्रिका त्याग कर सम्यक् चारित्र धारण करना चाहिये।

इस प्रकार मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही बालबाल मरण का कारण है। तथा ये ही तीनों संसार के दुःखों के वा पंच परावर्तनके कारण हैं। इसलिये समाधिमरण करनेवाले आराधकको सबसे पहले इन तीनों का त्याग करना चाहिये।

आगे रत्नत्रय धारण करनेकेलिये कहते हैं।

तदेवं तत्त्वमाश्रित्य स्वात्मसावं समाश्रय ।

साध्यसाधनभावेन रत्नत्रयमरो भव ॥ ९८ ॥

अर्थ—अतएव स्वपर भेदविज्ञान—स्वरूप अपने ही आत्माके स्वभावमें लीन हो जाना चाहिये। और साध्य—साधन—भावोंके द्वारा रत्नत्रयमें तल्लीन हो जाना चाहिये।

भावार्थ—अंतमें साधककेलिये उपदेश देते हैं कि हे साधक तु मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रिका त्याग कर सम्यग्दर्शन सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्रमें लीन हो ॥ रत्नत्रय आत्मस्वरूप है इसलिये वही तो साध्यस्वरूप है और वह शुद्ध आत्माका स्वरूप रत्नत्रयसे ही प्रगट होता है इसलिये वही रत्नत्रय आधनस्वरूप है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका आश्रय लेकर व्यवहारनय और शुद्धनय दोनोंके द्वारा रत्नत्रय का आराधन करना चाहिये।

आगे आत्मज्ञानकी सरलता और कठिनता दिखलाते हैं।

घन्यानां हृदये तत्त्वं श्रुतमासं विलीयते ।

सहस्रशोष्यधीयानैदूरभव्यै बुध्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—पुण्यवान् भव्य जीवोंको धन्य कहते हैं। ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें आत्मतत्त्वका परिज्ञान सुनकर्म मन्त्रसे हो जाता है। परंतु जो जीव दूरभव्य हैं दूरानुदूर भव्य हैं अथवा अभव्य हैं उनके हृदयमें हजार बार समझाने पर भी परिज्ञान नहीं होता।

भावार्थ—आत्मज्ञानका होम अत्यंत कठिन है। जिनकी काल-लघ्बिध अत्यंत दूर है ऐसे दूरभव्य वा दूरातिदूर भव्योंको अथवा अभव्योंको हजारों बार समझाने पर भी हजारों वर्ष पढ़ानेपर भी वह आत्मज्ञान नहीं होता। परंतु जिनकी काललघ्बिध रिकट है, अतिशय पुण्य कर्मोंके उदयसे जिनका आत्मा धर्मसे द्वेष नहीं करता अथवा धर्ममें तल्लीन रहता है उनके हृदयमें यह आत्मपरिज्ञान सुननेमात्रसे हो जाता है। हे भव्य जीव तुझे समाधिमरण धारण करनेका समय मिला है। अतिशय पुण्यकर्मके उदयसे सब सामग्री प्राप्त होगई है। और यह तेरी अंत समय है। इसलिये अब तू शरीरादिकसे सर्वथा ममत्व छोड़कर रत्नत्रयमें लीन हो—अपने शुद्धस्वरूप आत्मामें लीन हो। औं। इस प्रकार अपनी रत्नत्रयरूप निधिको साथ लेता हुआ परलोक के लिये तयारी कर। रत्नत्रयरूप निधिके साथ रहनेसे तुझे परलोकमें भी अपार लूक मिलेगा और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी ग्रासि भी बहुत ही शीघ्र हो जायगी। इति।

इस प्रकार महापंडित यशोकार्त्ति विरचित प्रबोधसार नामके ग्रंथमें तीन शिखावत और सहेतुवानाका निरूपण

करनेवाला यह तीपुरा अध्याय चावली

(आगरा) निकासी लालाराम जैन

शास्त्री कुल हिंदी भाषामें

समाप्त हुआ।

इस प्रकार यह प्रबोधसार नामका ग्रंथ समाप्त हुआ।

शुभ मिति कात्सिवत सुदी २ वी. नि; सं. २४५१